॥ श्री राम हरि ॥

गीता वचन सुधा

प्रवचनकर्त्ता :

श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाठक
'ब्रह्मचारी जी'

नागकूँआ–

॥ श्री राम हरि ॥

गीता वचन सुधा

प्रवचनकर्त्ता :

श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाठक

'ब्रह्मचारी जी'

दन :

ाठक

ारी,

ठय

मुद्रण :

भारतीय भाषा मुद्रणालय

सी ३/२७४, चेतगंज वाराणसी

प्रथम संस्करण :

२ अक्टूबर १९८१

प्रतियाँ :

१०००

मूल्य :

३।५० मात्र

प्राप्तिस्थान :

श्री सनातन धर्म-वर्धक पुस्तकालय,

ग्रा० पो० अन्धारी, भोजपुर, बिहार

युवजन-विचार-मंच

बी ३०/२२१, नगवाँ, वाराणसी

संत विनोबा जी

को

सादर समर्पित

संत विनोबा

का

आशीर्वचन

સોમવાર } બાબા કી શુભકામના

રામ હરિ

૨૬. ૧૦-૧૯૮૧

★ वन्दना ★

यज् ज्ञानपङ्कजमिलन्मकरन्दगन्धो-

न्मत्ता मुनीन्द्रपटली ननुभृङ्गवत्ताम् ।

प्राप्ता, तदीयगुणगानकथाऽनुरक्ता

सा मां मुकुन्दवचसां सरणी पुनातु ॥

❁ ❁ ❁ ❁

" यद्वक्त्राम्बुजनिर्गलन्मधुमयीं वाक्सौरभेयीं श्रुतिं

श्रुत्वाऽपार्थपरम्परापरिगतः पार्थः परार्थं गतः ।

यल्लीलालघुलोललास्यलहरीलुब्धाः महान्तो जनाः

जानन्तीह न तद्विना किमपि तं कृष्णं नुमः श्रेयसे ॥

—विन्ध्येश्वरीप्रसादो मिश्रः

'विनयः'

❀ कणिका-संकेत ❀

आरम्भ-वचन

गो, गङ्गा, गायत्री, गीता, गोपाल और गया इनकी जानकारी के विना हिन्दू धर्म को व्यावहारिक एवं वास्तविक रूप में समझ पाना असम्भव सा ही है। चर्चा एवं चिन्तन भारतवर्ष की सांस्कृतिक विरासत है। यही कारण है कि अनेकों मतों का प्रादुर्भाव, प्रचार तथा कालान्तर में अन्य मतों के साथ उनका समन्वय भी दीखता है।

जहाँ तक गीता का प्रश्न है, एक ओर स्वयं श्री कृष्ण ने विविध मतों का समालोचन कर निष्कर्ष निकाला है तो दूसरी ओर न केवल भारतीय हिन्दू सम्प्रदायाचार्यों ने ही (प्रस्थानत्रयी के रूप में) अपितु पूरे विश्व के अनेकानेक मनीषियों तथा महापुरुषों ने अपने चिन्तन तथा जीवन में गीता का बहुत आश्रय लिया है।

इन्हीं कारणों से गीता की अनेकानेक टीकाएं, भाष्य, अनुवाद, प्रवचन आदि प्रकाशित अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। इन सभी विविध ग्रन्थों में गीता को विचारानुकूल परम गम्भीर तात्त्विक विवेचनों से लेकर सामान्य जन-जीवन की समस्याओं का समाधान देनेवाली पुस्तक के रूप में जोड़ने का प्रयास किया गया है। इसी संदर्भ में योग शब्द की एक स्वतंत्र एवं मौलिक परिभाषा जो योग के विभिन्न संदर्भों में व्यापक बनी है तथा व्यक्ति के लिए विविध योग साधनाओं का सफल समन्वयमूलक समाधान ये सभी गीता में प्राप्त होते हैं। गीता की अपनी मान्यता भी है — "योगः कर्मसु कौशलम्"

(गीता अ० २, श्लोक ५०)

गीता-वचन-सुधा भी एक भक्त का गीता माँ एवं उसके बछड़ों सहित परमगोपाल के चरणों में अर्पित प्रेमोपहार है। पुस्तक प्रवचनकर्त्ता के द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिये गये प्रवचनों का संकलन है। इन प्रवचनों में पूर्ववर्ती मनीषियों की विपुल ज्ञानराशि का उपयोग तो हुआ ही है साथ ही प्रवचनकर्त्ता ने अपने जीवन में विविध क्षेत्रों में गीता की सहायता से जो प्रयोग किये हैं,

उनका भी सरल भाषा में प्रस्तुतीकरण किया गया है। कहीं कहीं परम्परागत पद्धति से कुछ पृथक् प्रतिपादन भी पाठकों को दीख सकता है। विज्ञजन स्वयं निश्चय कर सकेंगें कि पुस्तक कहाँ तक जन-जीवन को छू रही है साथ ही कहाँ तक इसकी पैठ है।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी सामान्यतया प्रचलित हिन्दी है। हाँ, जहाँ प्रवचन के क्रम में किसी शब्द के विश्लेषण की सम्भावना रही है, वहाँ उन शब्दों को उनके तत्समरूप में या तत्समरूप के समीप रखा गया है। शैली वक्ता की है, जिसमें कहीं कहीं स्तरीय मापदण्डों का अभाव दीख सकता है।

इस प्रवचन-माला का आयोजन अध्यात्म-चिन्तन-मंडल, सहार, भोजपुर, बिहार ने किया है। मंडल की गोष्ठियों में विभिन्न ग्रामों में ये प्रवचन सम्पन्न हुए हैं।

सहृदय-जन अपनी क्षमता एवं रुचि से इस छोटी सी पुस्तक का यत्किञ्चित् भी लाभ उठा सकें तो प्रयास की सार्थकता हो जाएगी। त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थना है।

रवीन्द्र कुमार पाठक

निवेदन

गीता की पुष्पिका (अध्यायान्त वचन) में कहा जाता है—'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'। तात्पर्य है कि गीता योग-शास्त्र का ग्रन्थ है। योगशास्त्र का विवेचन दो प्रकार से हुआ है। तात्त्विक दृष्टि से चिन्तकों मनीषियों के लिए तथा व्यावहारिक दृष्टि से मनीषियों से लेकर सामान्यजनों तक के लिए। गीता दोनों पक्षों का अद्भुत समन्वयमूलक समाधान प्रस्तुत करती है।

हमारे भारत में अन्य प्रमाणों के ही साथ योगजप्रत्यक्ष प्रमाण को भी परम विश्वसनीय माना गया है। इसके सहारे योगी यह प्रमाणित करते थे कि अप्रत्यक्ष की ही भाँति इससे भी सिद्धि की जा सकती है। ऐतिह्य प्रमाण माननेवालों के लिए यह सह्य नहीं था। वे लोग बिरोध करते थे। जैसी,जैसी हम प्रमेय-सिद्धि करते थे उसके ही अनुसार हम प्रमाण भी मानते गए हैं।

भौतिकवादी स्थूल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणों से अधिक काम लेते हैं किन्तु ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण अतीन्द्रिय अप्रत्यक्ष प्रमेय को सिद्ध करने में अभी तक असफल रहे हैं।

योग शब्द युज् धातु से बना है, जिसका अर्थ जोड़ना होता है। इसका व्यवहार गणित तथा विज्ञान में अधिक होता है। वीर्य-प्रधान, वायु-प्रधान, मनः–प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान के भेद के आधार पर चार योगों को क्रमपूर्वक कहा जा सकता है—

मंत्र योग, हठ-योग, लययोग तथा बुद्धियोग। मन, वायु, वीर्य की गति एक मानी गयी है। एक पर विजय से अन्य दोनों पर भी साधक अधिकार पा जाता है। बुद्धि की शुद्धि राजयोग से ही होती है। यह राजयोग सभी योगों में राजा है साथ ही साथ गुह्यतम है। सभी योगों की साधना में मूलस्वरूप यमनियम में भेद नहीं है। यम का पहला अक्षर अहिंसा है। यह सर्वमान्य है। "अहिंसा परमो धर्मः" आस्तिक या नास्तिक सभी प्रथम अक्षर अहिंसा एवं

सत्य को मानते हैं।

योग जीवन व्यतीत करने की कला है।

"योगः कर्मसु कौशलम्"

(गीता अ. २, श्लो,५०)

गीता में प्रथम अध्याय से लेकर अन्तिम अध्याय तक अठारह योग कहे गये हैं। परन्तु योगों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गीता के छह अध्यायों में कर्मयोग, सात से बारह तक भक्तियोग, तेरह से अठारह तक ज्ञान-योग बताया गया है। बिनोबाजी के अनुसार अन्तिम तीन अध्याय परिशिष्ट भाग हैं। इन तीन अध्यायों में तीनों योगों का समन्वय किया गया है।

मुझे सहार अंचलीय अध्यात्म-चिन्तन-मंडल की साप्ताहिक बैठकों में दशहरा १९७६ से १९७७ मार्च तक गीता सुनाने एवं विचार देने का मौका मिला है। यह काम भगवत्कृपा से एवं आपके स्नेह से बहुत दिनों पर प्राप्त हुआ है। मैं चार वर्षों से रोगी बनकर घर में पड़ा रहता था। आपके आशीर्वाद एवं आपके स्नेह को ही मेरे पुनर्जीवन का श्रेय है। तुच्छ सेवा अर्पित करता हूँ। स्वीकार करेंगे तथा सद्विचार का प्रसार करेंगे।

मेरी बातों को लघु पुस्तक का रूप देनेवाले सहयोगियों के प्रति मैं आभारी हूँ। सर्वप्रथम श्रोताओं का कृतज्ञ हूँ, जो इनके प्रथम निमित्त बने और पुनः अध्यात्म-चिन्तन-मंडल, सहार, भोजपुर का, जिनके सहयोग से आयोजन सम्पन्न हो सके। परम स्नेही, जिज्ञासु एवं चिन्तक श्री उमाशंकर पाण्डेय जी, विज्ञान शिक्षक, संस्कृत उच्च विद्यालय, अन्धारी ने मेरी पदावली को लिखित रूप देने में अपना अमूल्य योगदान दिया है। प्रेस के बन्धुओं ने कुशलतापूर्वक छापने में वास्तविक योग साधना की है। सभी सुहृज्जनों को धन्यवाद देता हूँ। त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे।

अन्धारी होलिकोत्सव
१९७७

विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाठक

प्रथम अध्याय

भाइयो !

गीता शब्द के साथ श्रीमद्भगवत् शब्द भी जोड़ा गया है। श्रीमत् आदर-सूचक है और भगवत् भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का द्योतक है। गायन्तीति गीता, जो गायी जाय उसे गीता कहते हैं। इस गीता में सात सौ श्लोक हैं। हिन्दू धर्म में पुराणों में अनेक गीताएँ पायी जाती हैं, जैसे, देवीभागवत् में देवी-गीता, गणेश-गीता, रामायण में राम-गीता; इसी तरह विदुर-गीता, अष्टावक्र-गीता आदि गीताओं की भरमार है। सभी गीताओं में आत्मा, परमात्मा, माया एवं स्वधर्म से मोक्ष प्राप्ति की चर्चा है।

महाभारत के भीष्मपर्व में अठारह अक्षौहिणी सेना के बीच अठारह अध्यायों में गीता गायी गयी है। ईशावास्योपनिषद् में भी, जो यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है अठारह मंत्र हैं। अठारह-पुराणों में भी अठारह योगों का क्रम-पूर्वक वर्णन किया गया है।

गीता माँ की शरण में देश-विदेश के महापुरुषों ने स्थान लिया है और शान्ति पायी है। गांधी जी ने माना कि जिस तरह शरीर की पुष्टि के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही मस्तिष्क के लिये गीता का अध्ययन जरूरी एवं श्रेयस्कर है। संत विनोबाजी ने कहा—"माँ के दूध से भी श्रेयस्कर गीता का दूध है।"

लोकमान्य तिलक ने गीता में कर्मयोग, शंकराचार्य ने अद्वैतज्ञानयोग, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतभक्ति, माधवाचार्य ने द्वैतभक्ति, बल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैतभक्ति और कुछ लोगों ने अद्वैतभक्ति बतायी है। बंगाल—उड़ीसा के सन्त चैतन्य महाप्रभु भक्तियोग, महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वरजी पातञ्जलयोग, पांडिचेरी के अरविन्द घोष आसक्तियोग तथा गांधीजी ने अनासक्तियोग गीता से पाया है। इन योगों को महापुरुषों ने एक हजार वर्षों में गीता की गोद में

वैठकर प्राप्त किया ।

हिन्दू धर्म के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ वेद, पुराण, स्मृति आदि का सारतत्त्व गीता को मान लिया गया है ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
(गीता माहात्म्य)

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता ॥

आदि उक्तियाँ कही गयी हैं । विदेश के लोगों ने भी इसका अध्ययन किया है और इसकी महत्ता वतायी है । हाल में भी अंगरेज महिला डॉ० एनी वेसेन्ट के द्वारा इसका प्रचार किया गया ।

इस दिव्य ग्रन्थ में योग-शास्त्र और ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है । ब्रह्मविद्या का अर्थ है पराविद्या । इसी विद्या से परब्रह्म परमात्मा को जाना जाता है, विद्या से ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है, 'विद्ययामृतमश्नुते' उपनिषदों में अमर विद्या का भी वर्णन किया गया है । प्रथम अध्याय के कथाप्रसंग में वर्णित कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई को कुछ आधुनिक विद्वान् ऐतिहासिक नहीं मानते । गांधीजी या विनोबाजी ने इसे देवासुरसंग्राम की तरह शारीरिक द्वन्द्व-युद्ध वताया है ।

प्रथम अध्याय में राजा धृतराष्ट्र का प्रश्न और संजय का उत्तर गीता की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि है । व्यास और अर्जुन को श्री कृष्ण ने अपना रूप विभूति-प्रकरण में बताया है । सुननेवाला और कहनेवाला एकही है, ऐसा लगता है । व्यास ने धृतराष्ट्र से दिव्यदृष्टि देने की वात पूछी किन्तु धृतराष्ट्र दिव्यदृष्टि लेकर अपने परिवार को मरते-मारते नहीं देखना चाहते थे । उन्होंने कहा कि हमारे मन्त्री संजय को यह दिव्यदृष्टि दे दी जाय । संजय शब्द का अर्थ होता है—

"सम्यगूरूपेण जयतीति संजयः" । अतः वे ही अधिकारी थे । धृतराष्ट्र ने कहा कि मैं संजय से ही पूछ लूँगा ।

संजय को दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई । वे कुछ रोज तक युद्ध देख-देखकर धृतराष्ट्र को बताते जाते थे । कुरुक्षेत्र में युद्ध हो रहा था । कुरुक्षेत्र इस समय हस्तिनापुर है । कौरवों के वंश में कुरु नाम के राजा थे । उनके राज्यकाल में अवर्षण हुआ । उन्होंने महापुण्य समझ कर कठिन परिश्रम के साथ युगल बैलों को जोतकर हल चलाया था । जितनी दूरी में वे जोत सके उतनी जमीन पुण्य भूमि हो गयी । यही जमीन धर्मक्षेत्र या कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुई । इस पुण्यकार्य से इन्द्र प्रसन्न हुए और राजा को वर दिया कि इस भूमि में जो मरेगा वह स्वर्गगामी होगा तथा परलोक में श्रेष्ठ पद पायेगा । इसलिये यह धर्मक्षेत्र कहा गया । इस स्थान की लड़ाई स्वधर्म (क्षात्रधर्म) समझ कर होती थी । अपने-अपने अरि की सब लोग आदर करते थे । संध्या, भोजन, शयन के साथ युद्ध-स्थल में साथ-साथ रहने आदि की भी व्यवस्था थी । गुरुजनों को नित्य प्रणाम कर, पैर छूकर युद्धस्थल में जाया जाता था । यह उनका दैनिक कार्यक्रम था ।

युद्धस्थल में दुर्योधन ने अपनी व्यूह रचना द्रोणाचार्य को दिखायी । उसे कुछ भय भी हुआ, तब उसने गुरु आदि सबको सेनापति भीष्म की रक्षा करने को कहा । इसी बीच दोनों ओर की शंखध्वनि से आकाश गूँज उठा । युद्धस्थल में एक तरफ दुर्योधन की तथा दूसरी तरफ अर्जुन की सेना खड़ी थी । अर्जुन ने कृष्ण को सारथी बना लिया था क्योंकि युद्ध के पहले अर्जुन और दुर्योधन दोनों कृष्ण के पास मदद माँगने गये थे । उस समय कृष्ण पलंग पर सोये हुए थे । अर्जुन पैर की तरफ और दुर्योधन शिर की तरफ बैठे थे । दोनों ने मदद माँगी । सामने पड़ा अर्जुन । भगवान ने कहा—'अर्जुन ! आपका पहले दर्शन हुआ । मेरे पास दो शक्तियाँ हैं, एक मेरी सेना दूसरा मैं स्वयं, किन्तु मैं निहत्था रहूँगा । इसमें से जो चाहे आप ले सकते हैं ।' अर्जुन ने कहा कि उसे कृष्ण की ही जरूरत है, सेना की नहीं । दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ । यह भगवान् के सारथी बनने की कहानी है ।

अर्जुन को इच्छा हुई कि वह अपने विपक्षियों को देखे, अतः उसने सेन के बीच में रथ खड़ा करने को कहा। रथ खड़ा किया गया। अपने गुरुजनों तथा परिवार को देखकर अर्जुन को व्यामोह पैदा हो गया। मोह के कारण स्वधर्म (क्षात्रधर्म) में स्वजनासक्ति से बाधा पड़ गयी। अपना धर्म छूट गया। पारिवारिक धर्म का विचार प्रबल हो गया। अर्जुन कहने लगे, क्षत्रियधर्म अच्छा नहीं। युद्ध करने से परिवार के लोग मारे जाएंगे। कुल नष्ट हो जायेगा। खानदान में स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जायेंगी। व्यभिचारिणी स्त्रियों से वर्णसंकर संतानें उत्पन्न होंगी तथा वर्णसंकर संतान से पितर नरक में गिरेंगे। अर्जुन यहाँ तक सोचने विचारने लगा। उसे स्वधर्म पालन करना अच्छा नहीं लगा।

परधर्म और स्वधर्म में श्रेष्ठता कनिष्ठता का भान नहीं होना चाहिए। धर्म जीवन के पहले से ही मौजूद रहता है। जहाँ जन्म होता है वहां माता, पिता, समाज, राष्ट्र सब उपस्थित रहते हैं उनकी सेवा करना धर्म है ही। इसलिए कोई धर्म न छोटा है न बड़ा। किसी भी धर्म को छोटा समझ कर छोड़ना नहीं चाहिए तथा किसी को भी बड़ा समझकर ग्रहण नहीं करना चाहिए। जहाँ हैं वहीं रहकर साधना करनी चाहिए। मछली को दूध अच्छा नहीं लगता। वह पानी में ही जिन्दा रहती है। ये सब बातें गीता-प्रवचन में विनोबाजी ने बतायी हैं। इनकी सलाह मुझे पसन्द पड़ती है। अर्जुन का अर्थ है, जिसके हृदय में कोमलता हो, ॠजुता हो। अर्जुन हथियार छोड़कर बैठ गया, मोहग्रस्त हो गया। उसने कृष्ण से कहा कि अब मैं युद्ध नहीं करूँगा।

प्रथम अध्याय को **अर्जुन विषादयोग** कहा गया है लेकिन हम सभी विषाद में पड़े हैं। कृष्ण अन्तर्यामी सबके हृदय में विराजमान हैं, ऐसा जाना चाहिए। हृदय कोमल होगा तभी अन्तर्यामी कृष्ण सदुपदेश करेंगे। ऐसा विश्वास है, ऐसा लगता है।
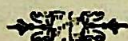
द्वितीय अध्याय

भाइयो !

आप लोगों के बीच श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। प्रथम अध्याय में अर्जुन का व्यामोह देखा गया है। अर्जुन अपने धर्म से च्युत हो गए हैं। अपने बचाव के लिए शास्त्र का प्रमाण देते हुए विचलित हो रहे हैं। यह स्वधर्म पालन में महान विघ्न का रूप है।

अर्जुन ने साफ-साफ कह दिया कि गुरुजनों की पूजा करना धर्म है फिर उन पर बाण कैसे चलाया जाय ? यह संकट है धर्मभीरुता का। अन्ततोगत्वा किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर अर्जुन भगवान की शरण में चला गया।

कृष्ण भगवान ने कई युक्तियों से उसे समझाया। उन्होंने पहली सामान्य युक्ति क्लैव्य-निवृत्ति बतायी और अर्जुन की उस दशा को कुसमय में प्राप्त कहा।

भगवान की शरण में प्रपन्न होकर अर्जुन श्रेयस्कर मार्ग का आकांक्षी बना। यह ज्ञान पानेवाले अधिकारी का लक्षण है।

भगवान ने इस अध्याय में जीवन के तीन महासिद्धान्त बताये हैं—

१—आत्मा की अमरता और अखण्डता।

२—शरीर की नश्वरता और क्षणभंगुरता।

३—स्वधर्म की अबाधित गति।

यह मत आचार्य विनोबाजी का है।

भगवान पुनः कहते हैं, "अर्जुन ! जो तुम्हें सोचना नहीं चाहिए, उसे तुम सोच रहे हो। पंडित लोग बीती हुई तथा बीतनेवाली बातों के बारे में नहीं सोचते। वर्तमान काल में रहने की आदत डालनी चाहिए क्योंकि भूत या भविष्यत्काल के चिन्तन से सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व बनते हैं।"

शरीर बदलता रहता है पुराने कपड़े बदलने की तरह लेकिन आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। आत्मा सनातन और अचल है इसलिए स्वर्ग

और नरक में इसका आना जाना नहीं सम्भव होता। आने-जाने का काम सूक्ष्म शरीर करता है। इस प्रकार उत्पन्न होना, बढ़ना, क्षय होना, विनाश होना ये सब शरीर के धर्म हैं; आत्मा के नहीं। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया, "मैं, तुम, ये राजा लोग (आत्म स्वरूप में) पहले भी थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। ये कालातीत हैं।"

इस अध्याय में काफी तत्वज्ञान की चर्चा की गयी है, इसे ही शास्त्र की संज्ञा दी गयी और इसी मार्ग को योग भी कहा गया है। शास्त्र और कला भिन्न हैं। संगीत-शास्त्र में सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा इन सात स्वरों, ताल-मात्राओं तथा राग-रागिनियों का काफी वर्णन है; लेकिन हारमोनियम पर तदनुसार स्वरमात्रा का उच्चारण कर संगीत के साथ स्वर को मिलाना कला है, यही योग है।

योगः कर्मसु कौशलम् (गीता अ० २, श्लोक ५०)

इसी को योग कहते हैं। कर्म करने की कुशलता ही योग है। जो शास्त्र की कला (योग) के साथ सामंजस्य बना लेता है, उसे उस शास्त्र का पंडित माना जाता है। जो शास्त्र के विरुद्ध मनमाना आचरण करते हैं, उन्हें न तो सिद्धि की प्राप्ति होती है न सुख की, न परमगति की ही—

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ (गीता अ० १७, श्लोक २३)

निष्काम-कर्मयोग की अवस्था ही सिद्धि की अवस्था या चरमावस्था है। सिद्धि (लौकिक सफलता) असिद्धि (लौकिक असफलता) में समत्व को भी योग कहा जाता है। योग की साधना में सुख-दुःख, लाभ-अलाभ (हानि), जय-पराजय को सम करने के उपाय बताये गये हैं। भगवान ने बताया कि व्यक्ति का अधिकार कर्म करने में ही है, फल उसके हाथ में नहीं है। कर्म में फल को ही हेतु मानने (अर्थात् फल ही जहाँ किसी कर्म का कारण हो) की आदत नहीं डालनी चाहिए। ये सब युक्तियाँ निष्काम कर्म करने की, निर्लेप रहने की साधना में अमूल्य हैं। कर्मयोग में व्यवसायात्मिका बुद्धि को अव्यवसायात्मिका बनाना पड़ता है। इसे शुद्ध और एकाग्र करना पड़ता है। अतः इस मार्ग को

बुद्धियोग भी कहते हैं। तत्त्वज्ञानयोग में आत्मा का नित्यत्व, व्यापकत्व तथा शरीर का अनित्यत्व दिखाया गया है। निष्काम कर्मयोग में मन एवं बुद्धि को पानी की तरह निर्मल चंचलतारहित बनाना होता है। शुद्ध, निर्मल मन-बुद्धि से ही निष्काम कर्मयोग सधता है और स्वरूप ज्ञान भी होता है।

साधना के साथ-साथ सिद्धि की अवस्था का भी वर्णन किया गया है। अर्जुन ने पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है? संसार के प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है? आदि आदि----

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

(गीता अ० २, ५४)

भगवान ने कहा कि इस योग की सिद्धावस्था में मन की सभी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाता है। वह व्यक्ति कछुए की तरह इन्द्रियों से काम लेता है। ज्ञान रूपी दिवस में विषयी लोग सो जाते हैं किन्तु ज्ञानी या संयमी जगा रहता है। अज्ञानरूपी रात्रि में योगी सो जाता है और विषयी जाग जाते हैं। इस ज्ञानी एवं संयमी को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। उसका सभी प्राणियों के प्रति राग-द्वेष से रहित होकर जीवन बीतता है। इसे ही स्थितप्रज्ञ कहा गया है।

स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, परमभक्त और ब्रह्म-निष्ठावान् ये सभी समानार्थक शब्द हैं। ये सारी चीजें एक ही अवस्था की हैं।

तृतीय अध्याय

भाइयो,

आज आपके बीच गीता के तीसरे अध्याय की चर्चा करूँगा।

गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान अर्जुन को तत्वज्ञान, योग और सिद्धावस्था समझा चुके हैं तथापि अर्जुन प्रश्न करते हैं कि जब आपको ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ लगता है तो मुझे क्यों छोटे कर्मयोग में नियोजित कर रहे हैं। आपकी व्यामिश्रित (अस्पष्ट, मिली-जुली) बातों से मेरा मन मोह में पड़ जाता है इसलिए अपना निश्चित मत बताइए।

भगवान ने कहा—इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा बताई गई है, एक ज्ञान-निष्ठा, दूसरी कर्म-निष्ठा। इसे निवृत्ति-मार्ग एवं प्रवृत्ति-मार्ग कहा जा सकता है। "नदिया एक घाट बहुतेरे" कहावत की तरह किसी भी घाट पर स्नान करें, स्नान नदी में ही होगा और शरीर-शुद्धि भी सम ही होगी। यदि भावना शुद्ध रही तो मानसिक शुद्धि भी साथ ही साथ हो जाएगी।

दोनों मार्गों का परिणाम पूर्णावस्था में एक होता है। कर्म कभी छूटता नहीं। इस शरीर से क्षण मात्र भी विना कर्म के निर्वाह नहीं हो सकता। संन्यासी या त्यागी बाहर से कर्म नहीं करता किन्तु भीतर से अनन्त कर्म करता है। इसीलिये ऋषियों ने पहले मानसिक सृष्टि की, जो आज भौतिक रूप में प्रगट है। संन्यासी की सारी भावनाएँ और विचार पर की सेवा में लगे रहते हैं। वह स्वत्व को इतना व्यापक बना लेता है कि उसे पर का ज्ञान ही नहीं होता। वह कर्म नहीं करते हुए अनन्त करता है।

निष्काम कर्मयोग में साधक स्वधर्म में (जो बाहरी कर्म है) रत रहता है किन्तु भीतर से परब्रह्म-परमात्मा, समाज या सृष्टि के प्राणियों के साथ समरस होकर स्वधर्म द्वारा सेवा करता है। यह बाहर से अनन्त कर्म करता हुआ भी परमात्म-भावना से युक्त होकर द्वैति अद्वैति भाव से समर्पणयोग के द्वारा फलासक्ति त्याग देने के कारण कुछ भी नहीं करता। इसकी भावना यह होती

है कि जो भी कर्म करता हूँ वह इस शरीर से परमात्मा की तुच्छ सेवा है ।

स्मृतिकारों ने गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञों का विधान किया है । गृहस्थाश्रम में प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन कर इन यज्ञों के सम्पादन की आज्ञा है । ये हैं– १- भूतयज्ञ, २- ब्रह्मयज्ञ, ३- दैवयज्ञ, ४- पितृयज्ञ, ५- अतिथियज्ञ ।

१- भूतयज्ञ– पालतू या वनचर पशुओं की सेवा करना ।

२- ब्रह्मयज्ञ में नित्य ऋषियों का शास्त्र चिन्तन तथा अध्यापन आता है ।

३- देवयज्ञ में प्रतिदिन अग्नि के माध्यम से देवता को हवि दी जाती है ।

४- पितृयज्ञ पितरों का तर्पण या श्राद्ध करना है ।

५- अतिथियज्ञ गृहस्थ के दरवाजे पर आये हुए अतिथि की आदरपूर्वक सेवा करना है ।

इन्हीं पंच महायज्ञों के द्वारा व्यापक परमात्मा की सेवा समझना गृहस्थ का मूल धर्म है । गृहस्थ का घर ही यज्ञशाला है । गृहस्थ के लिये सबकी सेवा से बचा यज्ञशेष भोजन ही पवित्र भोजन है । गृहस्थ के यहाँ की माताएं इस भावना से रसोई पकाती हैं कि परमात्मस्वरूप परिवार की सेवा करनी है । उन्हे खिलाकर निरोग, पुष्ट एवं स्वस्थ बनाना है । यह स्मृतिकारों की ऊँची उड़ान है । इस आश्रम के सहारे सरकार के मुलाजिम, कलाकार, परमार्थी कहे जानेवाले, विरक्त-सम्प्रदाय वाले सभी को आश्रय मिलता है । भगवान ने स्वयं अपने लिये भी कहा कि मर्यादा बनी रहे इसलिये कामना रहित होकर कर्त्तव्य समझकर कर्म करता रहता हूँ क्योंकि अल्पज्ञ लोग महाजन लोगों की देखादेखी करते हैं । संसार को सुचारु रूप से चलाते हुए 'जनक' जैसा रहो, मार्गदर्शक बनो । जिसका मन आत्मा में लीन हो गया है, जो अपने में ही संतुष्ट हो गया है, वह कर्म करने पर भी नहीं करता है । लोकमान्य तिलक ने बताया—काम, क्रोध, लोभ को मर्यादा में रखकर अमल में लाओ । अपने लिये नहीं समाज के लिये काम करो । पराये को सुख पहुँचाना हम गृहस्थों का धर्म है । चाहे वह कलाकार हो, गृहस्थ, सरकारी नौकर या शिक्षक सभी को इसी प्रकार कर्त्तव्य

समझकर स्वधर्म द्वारा समाज सेवा करते रहना है। यहाँ जितने भक्त हुए, उन्होंने अपना स्वधर्म नहीं छोड़ा। वे गृहस्थ थे परमार्थी नहीं। उन्होंने मिट्टी का काम करते समय, सर के बाल बनाते समय, कपड़ा बुनते समय, होड़ का चमड़ा इस्तेमाल करते समय सिद्धि पाई है। इतिहास इसका साक्षी है। यही पवित्र जीवन का आदर्श है। इन्होंने तीन एषणाओं (लोक, वित्त, काम) से रहित होकर स्वधर्म से, स्वव्यवसाय से सिद्धि प्राप्त की है। मनको वश में करना यह महान सिद्धि है।

गीता में स्वधर्म को ही कर्म कहा गया है। भगवान कहते हैं कि मुझे तीन लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं। कोई भी वस्तु प्राप्त करने को बाकी नहीं फिर भी मैं कर्म करते रहता हूँ। यदि मैं कर्म न करूँ तो लोक-जन भी कर्म करना छोड़ देंगे। परिणामतः प्रजाओं का अधिपति होने के कारण मैं दोषी बनूँगा। सभी कर्म प्रकृति करती है। इन्द्रियों द्वारा (जो कि तीन गुणों से बनी होने के कारण गुणों का कार्य हैं) कर्म होता है। ज्ञानी जन मानते हैं कि सब प्रकृति करती है, समाज करता है। मैं अकर्त्ता हूँ। वे अहं की भावना छोड़कर कर्म करते रहते हैं। इस साधना में अन्तराय (विघ्न) भी आते हैं। इन विघ्नों का प्रभाव मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों पर काम, क्रोध, लोभ के रूप में पड़ता है। इन विघ्नों के रहने के स्थान भी ये ही मन बुद्धि इन्द्रियादि हैं। ये विकार सूक्ष्म होकर मानस में बैठ जाते हैं। चित्त को घेर लेते हैं। इन विकारों से स्वधर्म पालन में विघ्न होता है। इन्द्रियादि में असंतुलन हो जाता है। संयम के जरिये, यम-नियम के द्वारा ब्रह्म-विद्या के प्रथम-द्वितीय अक्षरों (अहिंसा एवं सत्य) के सहारे इन्द्रियों पर विजय पाना होता है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह सुख-दुःख के द्वन्द्व में पड़कर इन्द्रियों के धर्म को अपना धर्म समझ बैठता है। परधर्म को स्वधर्म मान लेता है। अपना धर्म ही श्रेयस्कर है।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" को भूल जाता है। पुरुष अविद्यावश (अज्ञानवश) पराये धर्म को स्वधर्म मानकर सुख दुःख को भोगता रहता है।

गृहस्थ एवं विरक्त दोनों को हौवा हो गया है। लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति-निवृत्ति की सूची गीता-रहस्य में बना दी है। प्राचीन समय में प्रवृत्तिमार्गावलम्बी के यहाँ निवृत्तिमार्गावलम्बी ज्ञान सीखने जाते थे। ज्ञान दोनों के पास था अतः मिलजुलकर समझ-बूझ पाये और श्रेय की प्राप्ति की। ज्ञान दोनों के हाथ में था। ज्ञान पाने के अधिकारी वे ही हैं, जिनके पास विवेक, वैराग्य, इन्द्रिय-संयम, तितिक्षा है। सभी प्रवृत्तिगामियों के लिये इन्द्रिय-संयम का अवरोध झील की बाँध की तरह होता है, जिसमें बाँध में से एक पानी का निकास भी होता है। निकास का मतलब कर्म करने के मार्ग से है। ऐसा बाँध प्रवृत्ति के लिये है, रचना के लिए है। जिस बाँध में पानी का निकास नहीं वह है निवृत्ति-मार्ग। निवृत्ति-मार्ग में बहुत खतरा है। कभी भी बचाव करने का मौका नहीं। प्रवृत्तिमार्ग में समाज की स्थिति शुद्ध टिकाऊ बनी रहे इस निमित्त संयमित इन्द्रियों से काम लेते हैं। हमारे देवता भी अखण्ड व्यापक गति से काम करते रहते हैं। उन देवताओं के नाम क्या गिनाऊँ, सबसे प्रधान सूर्य हैं। चन्द्रमा, पृथिवी, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा एवं महेश हैं। हमारा जीवन इनके साथ साथ बीतता है। यह साधना सगुण उपासना की तरह सुगम है। निष्कामकर्मयोग में हम वाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों से काम लेते हैं। हाथ से गुरुजनों की सेवा, पैर से तीर्थाटन, नेत्र से परमात्मा का सौन्दर्य एवं रूप-दर्शन, कान से भगवद्-यश-श्रवण; इस प्रकार इन्द्रियों को मारते नहीं। हठपूर्वक दबाते नहीं। सही तरह से नियमित शुद्ध काम करते रहते हैं। निवृत्ति-मार्ग में इन्द्रियों को बाँध लेना पड़ता है, मार डालना पड़ता है। इस अवस्था में गलती हुई या इन्द्रियों के वश ठगा गये तो ज्ञान पापी बन बैठे। अज्ञान में हम गलती करें तो शायद माफ भी हो सकता है लेकिन इस ज्ञान योगी को कहीं शरण नहीं। भीतर से विषय-चिन्तन करना बाहर से विरोध करना यह गलत साधना है। इसे ढोंग, पाखण्ड कहा गया है। दोनों का फल एक है। दोनों को जो एक देखता है वही सच्चा ज्ञानी है और वही सही देखता है।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में कर्म कर रही हैं। प्रकृति के गुणों का

अपना त्रिगुणात्मक परिवर्तन हो रहा है। यहाँ सभी त्रिगुणमय हैं। परमात्मा के द्वारा आदरपूर्वक दी हुई नवद्वार एवं पंचकोष से बनी हुई शरीरनगरी में प्रजा जन काम करते रहते हैं। इस सिद्धान्त में विश्वास कर जो आजीवन काम, क्रोध, लोभ के भावों को हृदय में उठने नहीं देता, निरभिमानी होकर, मन तथा इन्द्रियों को वश में रखकर आत्मैकभावना से कर्म करता रहता है वही तो निष्काम कर्मयोगी है।

अंत में मन बुद्धि की शुद्धि के लिये साधना भी बतायी गयी है। निष्काम कर्मयोगी के लिए भी यह सुलभ-साधन उपयोगी है। साधक भ्रूकुटी के मध्य में प्राण एवं अपान को विजित कर (अवरुद्ध कर) कुम्भक करते हुए स्वरूप-चिंतन करता है। कुछ लोग ॐ, राम, कृष्ण वगैरह का जप भी करते हैं तत्-स्वरुप का ध्यान करते हैं। इससे स्व-पर का लोप हो जाता है। इस अभ्यास से मन बुद्धि का विकार नष्ट हो जाता है। इस निष्कामकर्मयोग का थोड़ा भी आचरण महान फल को देता है। इस योग का कभी नाश नहीं होता। भगवान स्वयं इस योग से लीलापुरुषोत्तम तथा मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। योग (साधना) से भ्रष्ट हो जाने पर भी कई जन्मों में इसे पूरा करना पड़ता है। निःश्रेयस् की प्राप्ति अवश्य हो ही जाती है। भगवान ने कहा है कि जो मेरे इस मत को मानता है वह मेरा भक्त है। मैं उस पर प्रसन्न रहता हूँ।

चतुर्थ अध्याय

कृष्ण भगवान ने कहा "मित्र ! यह अव्यययोग, जिसकी हम लोग चर्चा करने जा रहे हैं पहले सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने लाडले पुत्र मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से बताया था। इक्ष्वाकु ने राजाओं में फैला दिया। यह परम्परा बहुत दिनों तक रही। कुछ काल से यह परम्परा लुप्त सी हो गयी थी। तुम मेरे मित्र हो, भक्त हो, इस अव्यययोग के अधिकारी हो अतः मैं कहता हूँ। तुम सावधानी से सुनो।"

अर्जुन ने पूछा, कृष्ण ! आपका जन्म कब हुआ है और सूर्य का जन्म आपके जन्म से बहुत पहले का है ? यह वार्तालाप कैसे हुआ ?"

कृष्णने समझाया, " हे अच्युतदास ! तुम जानते नहीं। हम तुम बार बार जन्म लेते हैं। तुम्हें अपने जन्म के कारण का वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। इसे मैं जानता हूँ। नहीं जानने का कारण अज्ञान है।

जब जब धर्म की हानि होती है और सन्तपुरुषों को जब कष्ट होता है तब मैं प्रतियुग में आता हूँ। " परवस जीव स्ववस भगवन्ता"। जीव के कर्म तथा मेरे कर्म में यही अन्तर है। जन्म-कर्म का रहस्य जाननेवाला अव्यक्त, अव्यय स्वरूपवाला होता है।"

भगवान ने लौकिक कर्मों के साथ जो अपना सम्बन्ध बताया है मैं उसे स्पष्ट करने का प्रयास कर रहा हूँ। मीमांसा के कथनानुसार कर्म तीन प्रकार का होता है ।

क- क्रियमाण-कर्म ख- संचित-कर्म ग- प्रारब्ध-कर्म

कर्म का सामान्य लक्षण है – चञ्चलात्मकं कर्म । अर्थात् अँग्रेजी में Vibration or motion.

क- वर्तमान भौतिक शरीर से तत्काल जो किया जाय वह कर्म क्रियमाण-कर्म है ।

ख- संचित-कर्म वह है जो सूक्ष्मशरीर में संस्कार रूप से रहता है।

ग- प्रारब्ध-कर्म- यह स्थूलशरीर में जाग्रत-अवस्था तथा स्वप्नावस्था में ही भोगा जाता है । यह कर्म वर्तमानशरीर में ही फलित होता है। ज्ञान, भक्ति आदि से भी इसका क्षय नहीं होता है—

प्रारब्धकर्माणां भोगादेव क्षयः ।

भगवान ने बताया, " मेरा जन्म-कर्म जो जान जाता है, वह मुझे जान जाता है। मेरा जन्म-कर्म दिव्य है। जीव का जन्म-कर्म प्राकृतिक सामान्य कर्म है। इसमें कर्तृत्व का अभिमान तथा भोक्तृत्व की लालसा रहती है।

गीता के अन्तर्गत कर्म को स्वकीय, स्वजातीय, स्वराष्ट्रीय कहा गया है। इसी से "चातुर्वर्ण्य" का निर्माणकर्त्ता भगवान् अपने को बताते हैं। इसे स्वधर्म भी कहा गया है। गीता में कर्त्तव्य, कर्म, धर्म और नीति को एक ही माना गया है। परमात्मा स्वधर्मपालन में निर्लेप (निष्काम) कर्मयोग का प्रयोग करते हैं। कर्तृत्व में निष्कामता ही निर्लेप होने का साधन है । निष्कामता मनका धर्म है न कि शरीर का। कर्म, विकर्म और अकर्म की अवस्था-विशेष की ही चतुर्थ अध्याय में प्रधानतः चर्चा है। कर्म विकर्म मिलकर अकर्म बन जाते हैं। इस अवस्था में मन के कर्तृत्वभाव का लोप हो जाता है और कर्त्ता समरस हो जाता है साथ ही निर्लिप्त भी।

ज्ञान भी दो प्रकार का होता है –

१- स्व- संविद्

२- पर- संविद्

स्वसंविद् में कर्त्तापन की जगह द्रष्टापन पाया जाता है। परसंविद् में बुद्धि और मन के सहारे होने से कर्तृत्वाभिमान के साथ भोक्तापन भी हो जाता है। यह मन का धर्म है। इसीसे बन्धन और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" निष्कामकर्म में मन एवं बुद्धि दोनों को शुद्ध और एकाग्र करना पड़ता है। तभी निष्कामता की सिद्धि होती है। इस अध्याय में बताया गया है कि जप, तप ज्ञानादि विकर्मों का विधान शुद्धि और एकाग्रता के लिए है। सम्पूर्ण साधना भिन्न भिन्न तरीकों से पूरी की

जाती है। जब विकर्म द्वारा शुद्धि हो जाती है तब अकर्म-अवस्था में योगी पहुँच जाता है। इस अध्याय में ब्रह्म को ही अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति, बताकर ब्रह्म से ही समाधान बताया गया है । ब्रह्म बड़ा पेचीदा तत्त्व है । इसे कहीं प्रकृति कहीं परमात्मा के रूप में कहा गया है।

यज्ञ के ४ भेद बताए गए हैं ।

१- सूक्ष्म विषयों में इन्द्रियों की आहुति, संयम के जरिये।
२- इन्द्रियों में विषयों की आहुति, अर्पण के सहारे।
३- प्राण में अपान की आहुति।
४- अपान में प्राण की आहुति या दोनों में समत्व की साधना।

इन सभी विकर्मों में स्वसंविद् ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर है ।

ज्ञान की महत्ता–

ज्ञान से इस संसार में कोई भी वस्तु पवित्र और बड़ा नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा तत्परता और संयम चाहिए। सत्संगति और सत्पुरुषों की सेवा करनी चाहिए। तभी ज्ञान प्राप्त हो सकता है । ज्ञानयोग में प्रारब्धकर्म भस्म हो जाते हैं। यह एक विशेषता है। क्रियमाणकर्म में कर्तृत्व का अभिमान न रहने से संस्कार बनता नहीं। बीज भुँजने की तरह बन जाता है। बीज भुँज जाने पर पैदा नहीं होता इस तरह ज्ञान से निष्कामकर्म बन जाता है । कर्म छूटता नहीं कर्म निर्वीर्य होकर संस्काररहित रह जाता है । प्रारब्धकर्म निस्तेज हो कर द्वन्द्व नहीं बनने देता न अनुभव ही सुखदुःख का होता है। वह निष्कामयोगी प्रकृति के द्वारा, परमात्मा के द्वारा या दोनों के सहारे कर्म का होना मानता है। तत्त्वविद् (ज्ञानी) प्रकृति (माया) के सहारे कर्म को सम्पादित होते हुए देखता है, भोगता नहीं। अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता मानता है। यही निष्काम कर्मयोग को गीता में सिद्धि बतायी गयी है।
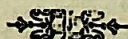
पञ्चम अध्याय

भाईयो !

पाँचवे अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया कि कृष्ण आप कभी कर्म संन्यास की, कभी निष्कामकर्म की प्रशंसा करते हैं। अतः इनमें जो श्रेष्ठ है उसे ही बताए यह प्रश्न ऐसा है कि सगुण-उपासना श्रेष्ठ है या निर्गुण-उपासना। भगवान ने उत्तर दिया कि दोनों रास्ते सही हैं और फल भी दोनों का एक ही है। दोनों एक अवस्था में हैं। केवल प्रकार का भेद है। पूर्णावस्था दोनों की एक है। साधना में निष्कामकर्मयोग कुछ सुलभ है क्योंकि वह सहजधर्म बन जाता है। संन्यासयोग (निवृत्तिमार्ग) में कर्म छोड़ना पड़ता है। जब तक शरीर रहता है कर्म छूटता नहीं। शरीर निर्वाह के लिए सदा शारीरिक या मानसिक उद्योग करते रहना पड़ता है। शरीर से कर्म बिलकुल छूट नहीं सकता इससे साधना में कठिनाइयाँ आती हैं। निष्काम कर्मयोगी को भी गृहस्थाश्रम में आसक्ति को हटाने में काफी प्रयत्न करना पड़ता है। इसका उपाय जन्म, मृत्यु एवं बुढ़ापा आदि का स्मरण करना है। —

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।

(गीता)

जो मूलधर्म है, वह क्या संन्यासी, क्या निष्काम कर्मयोगी सभी के लिये एक है। निष्काम कर्मयोग में कामनारहित होकर सेवाभाव से कर्म में रहना पड़ता है। इस प्रकार निष्कामकर्म को सगुणसाकार रूप में शरीर से साधने में सुगमता है। दोनों को जो एक देखता है वही सही देखता है।

"यः पश्यति स पश्यति।"

(गीता)

योगयुक्त और इन्द्रियों पर विजयी बनकर आसक्ति को हटाकर कर्म करने से फल की प्राप्ति नहीं होती। वह करते हुए भी नहीं करता। वह सभी इन्द्रियों से कर्म करके भी भगवदर्पण करता रहता है या समाजसेवा में लगा देता है।

कमल के पत्ते की तरह गृहस्थ समाज में रहते हुए भीनिर्लिप्त रहता है। आत्मशुद्धि के लिए वह कर्म करता रहता है। समाज विगड़ने न पाये इसकी याद रखता है। परमार्थी (संन्यासी) आत्मशुद्धि के लिए संध्यावन्दन करते रहते हैं। दोनों को संयम के सहारे इन्द्रियों पर विजयी होकर साधना करनी पड़ती है। [यह साधना न केवल दृश्यमान-शरीर से ही सम्बद्ध है अपितु] स्थूल, सूक्ष्म, कारणस्वरूप सभी पर विजय करना पड़ता है। कार्य को कारण में लयकर स्वरूप में रहने का अभ्यास करना पड़ता है। अन्त में योगी तथा संन्यासी दोनों की एक अवस्था वताते हुए दोनों के लिए शुद्धि साधना एक ही वतायी गयी है । भ्रूकुटि के मध्य में प्राण एवं अपान को कुम्भक द्वारा स्थिर कर स्वरूप या परस्वरूप का चिन्तन करें। यह ध्यान साधना-योग है। चाहे निर्गुण उपासक हो या सगुण उपासक; सभी भक्त, ज्ञानी, निष्काम कर्म-योगी हैं। इसी तरह संन्यासी और निष्काम कर्मयोगी दोनों साधक हैं । जो मार्ग सध जाय उसी से श्रेय की प्राप्ति हो जाती है। इस संसार में तीन प्रकार के कर्मों का योग है। तभी सिद्धि मिलती है।

१- परमात्मा में हलचल होना–ऐश कर्म

२- प्रकृति में हलचल होना– प्राकृत कर्म

३- जीव में हलचल होना– जैव कर्म

अभिमानी जीव, सृष्टि-अभिमानी-ईश्वर ये दोनों चेतन और एक हैं। प्रकृति अचेतन है तथापि चेतन का सम्बन्ध है। कभी भक्त कह वैठता है (अकर्मावस्था में)– 'इदम् तत्' - 'तदेव इदम्'-'तदेवाहम्' ।

पूर्णावस्था में दोनों एक हो जाते हैं। वही द्वैति अद्वैति भक्तियोग है और वही अपर ज्ञान भी है।

ऐसी अवस्था में निष्काम कर्मयोग स्वतः सधने लगता है।

षष्ठ अध्याय

भाइयो,

आज गीता के छठवें अध्याय के विषय में कहने के लिये आया हूँ। सावधान होकर सुनें।

गीता के बारे में सोचे समझें। गीता में अठारह अध्याय हैं। कुछ विद्वज्जनों का विचार है कि गीता में वेदों की तरह तीन काण्ड हैं। छः अध्यायों में कर्म-योग छः अध्यायों में भक्तियोग और छः अध्यायों में ज्ञानयोग कहा गया है। कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान, कर्म एवं भक्ति एक ही अवस्था की चीजें हैं। हरेक अध्याय में मिश्रित विचार रखा गया है।

छठवें अध्याय में चित्तवृत्ति-निरोध-योग साफ साफ कहा गया है। इसी से इसे साधना योग कहते हैं —

चित्तैकान्तता ध्यानम्।

एक विषय में चित्त का निर्वात स्थान में प्रज्वलित दीपशिखा की तरह निश्चल होना ध्यान है। ध्याता, ध्यान और ध्येय के एक हो जाने से निर्विकल्प समाधि जग जाती है। चित्त-निरोध-प्रक्रिया से कार्य कारण में लय हो जाता है। यह मोड़दार पंखे की संकोच की प्रक्रिया है। आरोही अवरोही मार्ग की तरह है। इस अध्याय में बतायी गयी साधना में चित्त को आरोहण करना पड़ता है। स्थूलशरीर का कार्य सूक्ष्मशरीर में निरोध करें, फिर सूक्ष्मशरीर का कार्य कारणशरीर में। तब सवेगी समाधि अर्थात्—स्व-पर-रूप समाधान।

कृष्ण भगवान कहते हैं कि कर्म के फल की इच्छा को त्याग कर जो कर्त्तव्य कर्म अर्थात् शास्त्रविहित कर्म करता रहता है वही संन्यासी है, न कि अग्नि नहीं छूनेवाला या कर्म को त्यागने वाला।

कर्म के फल को त्यागे और संकल्प को त्यागे विना कोई भी योग नहीं सध सकता। इस अध्याय के अनुसार योगी बनने के लिए; चाहे निष्काम कर्मयोग या संन्यासयोग दोनों साधनाओं की सिद्धि का कारण कर्म ही होता है। "अहं

ब्रह्मास्मि" का अनुष्ठान करना पड़ता है। संन्यासी भक्तों को भी तथा दासानुदासयोगियों को भी मंत्रयज्ञ का अनुष्ठान करना पड़ता है । 'आरुरुक्षु' कर्मयोगी का कर्म ही कारण है। ऊर्ध्वगामी साधक का और योगारूढ़ का कारण शम है। यह अवस्था "अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्" के कथनानुसार सिद्ध होती है। इस अवस्था में द्वन्द्व नहीं रहता। स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य एवं लोक-परलोक का झमेला नहीं रहता । इस अवस्था में पहुँचने के लिए चित्त का निरोध करना अनिवार्य हो जाता है। मस्तिष्क की हलचल तो निद्रा, मूर्छा आदि अवस्थाओं में भी वन्द हो जाती है लेकिन सूक्ष्म-शरीर में सूक्ष्म-संस्कार बना रहता है। इससे पुनरावृत्ति (अर्थात् - पूर्व - तदनुसार वृत्ति) बनती रहती है। दूसरे जन्म में भो पूर्वसंस्कार की वजह से कर्म फलित होने लगता है।

शुद्ध स्थान में, जो न नीचा हो न ऊँचा हो उस आसन पर कुश की चटाइ या मृगचर्म बिछाले और उसके ऊपर वस्त्र डाल दे तब सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन में बैठे। इन्द्रियों को कछुए के अंगों की तरह समेटे, फिर मन को भी। फिर अपनी चेतना या इन्द्रियों को अपने स्वरूप तथा परमात्मा के रूप में लगावे इस तरह नित्यप्रति निर्धारित समय पर अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करते समय मेरुदण्ड को सीधा रखें। नासिका के अग्रभाग को देखते रहें। मेरुदण्ड को सीधा रखने से सुषुम्ना नाड़ी की गति रुक जाती है। इस योग में ब्रह्मचर्य -व्रत पालन करना अनिवार्य है। यह योग उसी को सधता है जो परिमित नियमित आहार - विहार करता है । भोजन, सोना, शारीरिक श्रम-करना सब में परिमितता, नियमितता होनी चाहिए ।

जब यह योग सध जाता है तब शान्ति मिलती है। तभी सुख की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि—"अशांतस्य कुतः सुखम्"। यह व्यावहारिक कार्य होते समय भी किया जा सकता है। यह विषय कुछ त्रिकालसंध्या में भी आता है। इस योगावस्था में पहुँच जाने से ही जीवन सफल समझा जायेगा, ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है। संत विनोबाजी के कथनानुसार ध्यानयोग मे तीन बातें हैं –

१- चित्त-निरोध

२- परिमित, नियमित आहार-विहार

३- शुभदृष्टि

शुभदृष्टि नहीं होने से व्यवहार में रागद्वेष उत्पन्न होता है । 'अच्छा-बुरा' की दृष्टि चित्त को स्थिर नहीं होने देती । शुभदृष्टि के होने से सर्वत्र परमात्म-चिन्तन में मदद मिलती है ।

भगवान ने कहा है—अर्जुन ! जो मुझे सब जगह देखता है वही सच्चा योगी है । मैं उस पर प्रसन्न होकर उसे अपने में मिला लेता हूँ । यही तो सायुज्य-मुक्ति है । जो आत्मौपम्य दृष्टि से मुझे भजता है वह मुझसे कभी अलग नहीं रहता ।

अर्जुन का प्रश्न—मनको वश में करना तो वायु को वश में करने की तरह है । यह कठिन काम है । यदि सिद्धि प्राप्ति के पहले ही शरीर छूट जाय तो उस साधक की क्या गति होगी ?

भगवान ने कहा—मन को पकड़ना सही में वायु को पकड़ने की तरह है फिर भी अभ्यास एवं वैराग्य से पकड़ना शक्य हो जाता है ।

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।"

(गीता अ. ६ श्लोक ३५)

यदि साधक का शरीर सिद्धि प्राप्ति के पहले ही छूट जाता है तो वह उच्च योगी या बुद्धिमान साधन सम्पन्न के यहाँ जन्म लेता है । शेष स्थान की साधना से ऊपरकी साधना प्रारम्भ कर देता है । उसके योग का लोप नहीं होता । वह आगे पूरा कर लेता है । वह योगी तपस्वी, शास्त्रज्ञानी एवं सकामकर्मी से भी श्रेष्ठ है लेकिन मेरा भक्त सबसे श्रेष्ठ है ।

सप्तम अध्याय

आज गीता के सातवें अध्याय के बारे में मुझे कुछ कहना है । इस अध्याय में प्रपत्ति (शरणागति) योग कहा गया है ।

भगवान कृष्ण ने छठे अध्याय में साधना योग बताया है । इसे चित्त-वृत्ति-निरोधयोग भी कह सकते हैं । पुनः वे इस (सातवें) अध्याय में अर्जुन से कहते हैं कि मुझमें जिसका मन आसक्त है, जो मेरे आश्रय के साथ निष्काम कर्मयोग से युक्त है, वह मुझे संशयरहित समग्र विधि से जानता है । भगवान पुनः अर्जुन से कहते हैं । अर्जुन ! मैं तुम्हे ज्ञान-विज्ञान सहित योग को बतलाता हूँ । इस ज्ञान को जान लेने से इस संसार में जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता ।

गीता के अन्दर प्रकृति का वर्णन अन्य जगह भी है लेकिन वहां प्रकृति का रूप कुछ दूसरे प्रकार से बताया गया है । इस संसार के उपादान कारण प्रकृति और पुरुष हैं । कृष्ण अपने को पुरुष–विशेष मानते हैं । वे सृष्टि में कैसे निवास करते हैं या उनमें सृष्टि कैसे लबालब भरी हुई है यह दुहरी बात ज्ञान–विज्ञान के रूप में कही गयी है । (सप्तम अध्याय को ज्ञान–विज्ञान योग की संज्ञा दी जाती है ।)

भगवान ने कहा कि भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह अष्टधा प्रकृति है । इसे अपरा प्रकृति भी कहते हैं । जीव श्रेष्ठ (परा) प्रकृति है । ये दोनों समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर स्थित हैं । भगवान की यह अपरा प्रकृति [माया] ही त्रिगुणात्मिका माया है । भगवान परा प्रकृति को अपना अंश जीव कहते हैं । यह "जीवो ब्रह्मैव नापरः" की तरह लगता है । कृष्ण ने यह भी बताया कि मुझे छोड़कर कोई भी इस संसार में अन्य नहीं है । माला की मणियाँ जैसे सूत में पिरोयी रहती हैं । उसी तरह सूत रूप में मैं व्याप्त रहता हूँ । मणियाँ जीवधारी रूप में हैं । भगवान ने अपना सूक्ष्म एवं व्यापक रूप समझाने के लिये अर्जुन को कहा कि मैं जल में रस, सूर्य

चन्द्रमा में प्रभा, वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द, पृथ्वी में गंध, तेजस्वियों में तेज सब भूतों में वीज रूप से हूँ। और क्या कहूँ, मैं बुद्धिमानों में बुद्धि,तपस्वियों में तप, धर्म के अविरुद्ध काम भी मैं ही हूँ। जो भी सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं वे सभी मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझो। फिर भी समस्त प्राणि–मात्र मुझमें हैं मैं उनमें नहीं हूँ। यही मायाधिपति की लीला है। उन्होंने यह भी कहा कि यह त्रिगुणात्मिका दैवी माया मेरी है। इसे पार करना अत्यन्त दुस्तर है। मुझे जो ज्ञान-विज्ञान सहित जान जाता है वही इस संसार को पार करता है। माया के कारण आसुरीभाव को प्राप्त करनेवाले पापात्मा मुझे नहीं जानते।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि मुझे जाननेवाले चार प्रकार के हैं –

१– सकामी भक्त

२– निष्कामी भक्त

३– एकांगी भक्त

४– पूर्ण भक्त

एकांगी भक्त तीन प्रकार के हैं –

क- अर्थार्थी

ख- स्व–जिज्ञासु

ग- आर्त्त।

ज्ञानी भक्त का यह प्रकार मैं विनोबाजी के मुताबिक कह रहा हूँ। यह मुझे पसन्द पड़ता है। भगवान ने यह भी कहा है कि सभी भक्त उदार हैं। भौतिक साधना को छोड़कर लोक–परलोक का श्रेय पाने के लिए मुझ पर निर्भर रहकर अपना जीवन व्यतीत करना भी उच्च जीवन है।

विज्ञान सहित ज्ञान ही पूर्णज्ञान है। सभी वस्तुओं में एकही तत्त्व रम रहा है यह जानना ज्ञान है और सारी चीजें एक ही तत्त्व से उत्पन्न हैं यह जानना विज्ञान कहा जाता है। भगवान के अनुसार इस ज्ञान विज्ञान की जानकारी को प्राप्तकरने से मुझे अच्छी तरह जाना जा सकता है।

पुण्य कार्य करने से जिसके पाप का क्षय हो जाता है, वही, मोह से मुक्त होकर मुझे भजता है। पापात्मा अज्ञान से विवश होकर मुझे नहीं प्राप्त करते। उनमें आसुरी वृत्ति होती है। आसुरी वृत्ति के कारण वे मुझे व्यक्त रूप ही मानते हैं।

भगवान ने पुनः कहाकि मेरे कुछ निष्कामी भक्त अनन्यभाव से भजकर मुझे प्राप्त करते हैं। अव्यक्त (मेरे श्रेष्ठ स्वरूप) को पूर्ण ज्ञानी ही जानता है। वह 'वासुदेवः सर्वमिति' जानकर द्वन्द्वरहित होकर अहैतुकी भक्ति के द्वारा मुझे भजता है। हजारों में एक मनुष्य साधना के लिये प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवालों में कोई एक मुझे प्राप्त करता है। इस संसार में ऐसा भक्त दुर्लभ है। इसका जीवन सर्वश्रेष्ठ है। यह भक्त मेरे अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञ सभी रूपों को पहचान लेता है,'' ऐसी भगवान की घोषणा है।

अष्टम अध्याय

प्रिय मित्रो !

आज मैं गीता के आठवें अध्याय के बारे में कुछ कहने जा रहा हूँ। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही अर्जुन ने प्रश्न किया ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव क्या है ? भगवान ने उत्तर दिया–अक्षर ही ब्रह्म है, जो जगत् का उपादान कारण और श्रेष्ठतम है। इसका स्वभाव ही अध्यात्म है। यही ब्रह्म अधिभूत रूप से कार्यरूपेण विद्यमान है। इस अध्याय में अमर विद्या बतायी गयी है। इस विद्या की सिद्धि के लिये जीवनपर्यन्त अन्तिम घड़ी तक साधना करनी पड़ती है। "अन्त भला तो सब भला" की भाँति जीवन का अन्तिम समय भी मधुर एवं आनन्दमय होना चाहिये।

हम जो भी करते हैं उसका संस्कार चित्त पर पड़ता जाता है। संस्कार की रेखा मनोविज्ञान के सहारे मस्तिष्क में समझी जाती है। मस्तिष्क २२ हड्डियों के टुकड़ों से बना हुआ है। खोपड़ी में छोटे–बड़े के रूप में (दो) मस्तिष्क रहते हैं। मस्तिष्क में मन, बुद्धि अहंकार क्या इन्द्रियों के ज्ञान के आदान–प्रदान करने वाले केन्द्र भी हैं। संस्कार मस्तिष्क पर पड़ता है। यह रेखा अणुवीक्षणयंत्र के सहारे मस्तिष्क पर देखी जा सकती है। 'पतञ्जलि' मुनि का भी यही मत है।

चौबीस घंटों में न जाने कितने संस्कार बनते और विगड़ते हैं। बहुतों को हम विस्मृति के रूप में छोड़ जाते हैं। मुख्य मुख्य संस्कार जमा होते हैं। इन संस्कारों की अस्पष्ट रेखाओं के अनुसार ही इस जन्म या परजन्म में हम इन्द्रियों के द्वारा सुखदु:ख का अनुभव करते रहते हैं। जड़भरत की कहानी पुराणों में प्रसिद्ध है। अन्तिम समय में उन्होने हरिण के बच्चों का चिन्तन किया अत: शरीर छोड़ते समय वे हरिण का बच्चा बन गये। तथापि उन्हें प्राप्त शरीर में ज्ञानोपार्जन के पूर्व-संस्कार के द्वारा स्मृति बनी रही। यह पूर्व–साधना का परिणाम है। अजामिल की भी अन्तिम घड़ी बड़ी सुन्दर रही क्योंकि अपने पुत्र नारायण का

नाम लेते हुए उन्हें उत्तम गति की प्राप्ति हुई। उनका संस्कार पूर्व जन्म का था। हम सब दैनिक कामों की स्मृति नहीं रख पाते। स्मृति का सम्बन्ध इन्द्रियों से है। आत्म-स्मृति स्वरूप की प्राप्ति करा देती है। स्व-स्मृति का उपयोग मरण के समय अवश्य होना चाहिए। 'स्व' से मैं तथा मेरा स्वामी परमात्मा लिया जाय, तभी कल्याण है। पर का अर्थ शरीर तथा इन्द्रियों से होनेवाले कर्म का संस्कार मानना अच्छा है। स्वरूप ज्ञान ही परज्ञान है। ध्यानयोगी के भी ध्यान का संस्कार चित्त में पड़ता है। इस संस्कार में यह खूबी है कि अन्य संस्कारों का लोप कर यह स्वयं भी लुप्त हो जाता है। निर्विकल्प समाधि की यही करामात है जैसे सोहागा सोने के मैल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। भगवान वारबार कहते हैं कि मुझे भूलो मत। मुझे सदा याद करो। मरते समय यदि मुझे याद करोगे तो मुझमें मिल जाओगे।

भगवान अर्जुन को वारवार यही कहा करते थे कि मुझे याद करते हुए युद्ध करते रहो- मामनुस्मर युध्य च (गीता अ० ८, श्लोक ८)

श्रेय अपने हाथ है। अमरविद्या का यहां के महिला समाज में काफी प्रचार था। श्रेय के लिये बहुत लोगों ने अपने प्राणों की आहुति करके भी दिखा दी है। योगियों को कौन कहे यह भारतवर्ष के सामान्य जनों का इतिहास है। भीष्म अपने अंतिम समय तक वाण-शय्या पर पड़े रहकर सूर्य के उत्तरायण गति की प्रतीक्षा करते रहे। यह आख्यान विख्यात है। राम की स्मृति में दशरथ का प्राणान्त हो गया। अपने धर्म की रक्षा के लिये यहाँ की राजमहिलाओं ने अपने को धधकते अग्निकुण्ड में झोंक दिया। यह सब इतिहास में पाया जाता है। स्वरूप था परमात्म-स्वरूप के चिन्तन से विषय सम्बन्धी संस्कार स्वतः घुल जाते हैं। इसके लिए जीवन भर भजन, ध्यान साधना करनी पड़ती है।

छठवें अध्याय में भी ध्यानसाधना बतलायी गयी है। चित्त की एकाग्रता एवं शुद्धि के लिए वही मिलती जुलती साधना रखी गयी है।

साधक भक्तिपूर्वक सभी नव द्वारों को बन्द कर, मन को हृदय में रोककर

दोनों भ्रूकुटियों के मध्य आज्ञाचक्र में प्राण को ठहराकर ऊँ का जप करता है। इस अभ्यास से मरण के समय ऐसा हीं रूप देखकर मरता है। वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही इस अध्याय में भगवान ने कहा है।

इस संसार की उत्पत्ति एवं अन्त ब्रह्मा के आयुमान तथा रात-दिन के ऊपर निर्भर है। अव्यक्त से व्यक्तसृष्टि होते समय ब्रह्मा जग जाते हैं। वेदान्तियों ने अन्तःकरण को ही ब्रह्मा कहा है। ब्रह्मा के चार मुख होते हैं। अन्तःकरण के भी चार मुख हैं, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। ब्रह्मा के जन्म से हम जीव वारवार जन्म-मरण के चक्र में जीवन काटते रहते हैं।

हमारे शास्त्रों में सूर्य की दो गतियों का जिक्र किया गया है। एक है उत्तरायणगति और दूसरी है दक्षिणायनगति। मरण समय में सूर्य सामने चाहिए। मास भी उत्तरायण अन्तिम दशा में चाहिए। सूर्य के माध्यम से अमरत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। दक्षिणायन की गति मे भी जीव ऊर्ध्वगति को जाता है। यह मार्ग भी श्रेय का है। स्वर्ग को प्राप्ति तो आसान है। जीव चन्द्रलोक होते हुए अंधकार धुआँ आदि को पार करता हुआ पहुँच जाता है। यह मार्ग परवश है। सृष्टि से सम्बन्धित काल पुरुष के द्वारा भी कभी कभी मुक्ति हो जाती है। मुझे तो जीवन मुक्ति चाहिए। मुक्ति भी तो भुक्ति ही है। इसलिए निर्हेतुकी भक्ति चाहिए इस शरीर में ही। मुक्ति के लिए आनन्द भोगना है। भगवत्कृपा का आनन्द लेने में भी मजा देखना है। उनकी कृपा के सहारे उस अवस्था को पा सकते हैं। यह तुरीय, विदेह या जीवनमुक्त की अवस्था है। भक्त तो भगवान को गोद में आना जाना पसन्द करता है। अपने स्वामी के लिए, अपने लिये नहीं। हमें उनके साथ रहने में कल्याण है। यही मैं भी पसन्द करता हूँ। उनके प्यार से मैं पलता जा रहा हूँ। अन्त में सद्गति चाहिए।

नवम अध्याय

भाईयो !

आज गीता के नवें अध्याय के बारे में मुझे कुछ कहना है। आजकल मानव समाज में अनेक विद्याओं का प्रचार हो गया है। विद्या 'विद्' धातु से बनी है, इसी 'विद्' धातु से वेद भी बना है। 'विद्' धातु से ही वेत्ता (जानने वाला) भी बनता है। जानने वाला, जानने का साधन और जानने योग्य सब एक ही धातु से बने हैं। इसी तरह भक्त, भक्ति और भगवान तीनों एक हैं।

इस अध्याय में भक्तियोग-राजयोग कहा गया है। साथ ही साथ गोपनीयों में यह राजगुह्य है। गुह्य भी तीन प्रकार के होते हैं। गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम भगवान कृष्ण ने इनका प्रयोग गीता में किया है। यह योगों में राजयोग तथा गुह्यों में राजगुह्य है। इसकी अनुभूति प्रत्यक्ष, हस्तामलकवत् होती है। यह सुलभ योग है। यही अव्यययोग भी है। यह राजविद्या सभी विद्याओं में अव्यय है।

जो मनुष्य भागवतधर्म का अमल करेगा वह भागवत होगा। भगवान से भागवत को भक्त लोगों ने बड़ा मान लिया है। मानव-समाज में सेवा धर्म बताया गया है। भगवान ने बताया है कि मेरे द्वारा यह जगत् व्याप्त है। "ईशावास्यमिदं सर्वम्" या "वासुदेवः सर्वमिति" की तरह "मयाततमिदं सर्वम्" इस अध्याय में कहा गया है। भागवतधर्म को जो नहीं मानता या जो इस पर श्रद्धा नहीं रखता वह सदा जन्म-मरण के चक्र में पीसा जाता है। आकाश की तरह भगवान भी व्याप्त हैं। इस कारण वे इस जगत् में निर्लिप्त हैं।

भगवान की माया के जरिए सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। ऐसा भगवान ने जिक्र किया है। भक्त भी अपने में कर्त्तापन स्वीकार नहीं करते। भगवान की यह माया दैवीमाया है और त्रिगुणात्मिका है। इस माया के साक्षी मायापति भगवान के द्वारा सृष्टि के कामों का होना माना जाता है।

इस भागवतधर्म को भक्त स्वीकार कर लेता है। भगवान कहते हैं कि ज्ञान–पूर्वक भक्त मुझे एकत्व और पृथक्त्व भाव से भजते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग का भी साथ हो जाता है और स्वतः भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का समन्वय हो जाता है। इस कारण जो भक्त मुझे अनन्यभाव से चिन्तन करता रहता है, उसके लिए आवश्यक वस्तु की प्राप्ति अर्थात् 'योग' का एवं प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा अर्थात् 'क्षेम' का भार मैं स्वयं ले लेता हूँ ऐसी भगवान की स्वीकृति है। भक्तों की गाथाओं में काँवर ढोते, चक्की पीसते हुए भगवान का चित्रण है। प्रभु को छोड़कर कामनाओं की प्राप्ति के लिए अन्य देवताओं को सकामी भक्त पूजता रहता है। जो भगवान को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना में लगे रहते हैं, वे मनुष्य अंधकार में हैं। भगवान ने कहा कि पापी, दुराचारी, नीच-योनि एवं नीचसमाज में भी जन्मलेनेवाला व्यक्ति मुझे प्राप्त कर सकता है। मुझमें मन लगानेवाला मुझे पा जाता है। "यांति मद्याजिनोऽपि माम्"। फिर यदि उच्चसमाज और उच्चकुल में जन्म लेनेवाला पुण्यात्मा मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे तो उसके लिए कहना ही क्या? "किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस्तथा"। भगवान तो स्वयं अधमोद्धारक हैं। भगवान ने यह भी बताया है कि सदा–सर्वदा इन्द्रियों से काम लेते हुए कर्म करते हुए भी सब कर्मों को मुझ में अर्पण करते जाओ। स्नान, भोजन, शयन सभी जो प्रकृति के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं, मुझे अर्पित करते जाओ। यह उत्तमोत्तम यज्ञ है। यह ब्रह्मयज्ञ है। ऐसा प्रतीत होता है। "विनु हरि कृपा तृण नहीं डोलै" अर्थात् भगवान के द्वारा ही सब कार्य होते हैं तो फिर सब कार्यों को हमें उन्हीं को अर्पण कर देना चाहिए, जिससे भोगने का सारा अधिकार भगवान का हो अपना नहीं। कर्त्ता भोक्ता वही है। इस प्रकार स्वधर्मानुसार कर्म करते हुए अर्पण-योग से जीवन व्यतीत करने की बात बतायी गयी है।

इस नवम अध्याय में भक्ति का भव्यभवन तैयार किया गया है। सातवें अध्याय से उपासना-काण्ड प्रारम्भ होता है। उपासना शब्द का अर्थ है परमात्मा के नजदीक बैठना। इस नवम अध्याय में समर्पणयोग विधिवत्

बतलाया गया है। यही राजविद्या राजगुह्ययोग है। संत ज्ञानेश्वरजी ने इस अध्याय का पाठ करते करते अपना शरीर छोड़ दिया था।

अन्त में भगवान ने यह सलाह दी, 'अर्जुन ! तू मन को मुझमें लगाओ। मेरा भक्त बनो। मेरा पूजन करो। मुझे नमस्कार करो। मुझमे तत्पर रहो। इस तरह मन को मुझमें लगाकर परमानन्द-स्वरूप मुझे प्राप्त करोगे।

दशम अध्याय

भाइयों !

आप सब भगवत्प्रेमी हैं । गत अध्याय में आप सुन चुके हैं प्रेम के बारे में। भक्ति की परिभाषा ही है, 'पर प्रेमस्वरूपाच' । पर प्रेम ही भक्ति है। पर से परब्रह्म (परमात्मा) ले लें। दशम अध्याय में इस प्रेम के सहारे इस संसार को जानकर कैसे व्यवहार किया जाय यह बताया गया है। भगवान् ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा है–हे अर्जुन ! अतिशय प्रेम के कारण तुम्हें अतिशय हित की बात कह रहा हूँ। मेरे प्रभाव और मेरी नाना प्रकार की विभूतियों द्वारा मेरे आविर्भाव को न तो देवता ही जानते हैं और न महर्षि। मेरे अनुग्रह से ही कोई मुझे जान सकता है। मुझे सभी के उपादान-कारण, अनादि, अजन्मा, लोक महेश्वर को जो जानता है, वह सभी मनुष्यों में मोहरहित होकर सभी पापों से छूट जाता है। भगवान ने कहा-व्यष्टि या समष्टि में मेरे द्वारा ही सब सद्गुण उत्पन्न होते हैं। इसे दैवीसम्पत्ति कहा जा सकता है। यहाँ आसुरीसम्पत्ति प्राकृतिक विकार के रूप में है।

समष्टि में व्यष्टि की उत्पत्ति के समय चाहे मानसिक-सृष्टि या मैथुनी-सृष्टि सभी मेरी योगविभूति से सम्पन्न होते हैं। इसलिए मेरे आदिरूप को ऋषि-महर्षि भी नहीं जानते हैं। भगवान ने यह भी बताया कि मनुष्य योग-विभूतियों के साथ मुझे जान जाता है। वह सर्वज्ञ हो जाता है। मुझे जानने के लिए यह विभूतियोग साधन है।

अर्जुन ने स्वीकार किया है कि—हे कृष्ण आप परब्रह्म, परमात्मा, पवित्र एवं परमाश्रय है। आप शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अज और व्यापक हैं। आप जो अपना रूप बताते हैं वही रूप व्यास प्रभृति शास्त्रकारों ने भी बताया है। आपको किन-किन विभूतियों के द्वारा जाना जाय ? यही युक्ति योग के बारे में भी बतायें जिससे हम चिन्तन मनन कर सकें।

भगवान कृष्ण को महायोगेश्वर कहा गया है। योग शब्द का प्रयोग तंत्र, मंत्र

एवं आयुर्वेद में भी हुआ है। योग में चित्त की वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। चित्त की वृत्तियों पर अधिकार करनेवाले को योगी कहते हैं। योगियों के ईश्वर शंकर है परन्तु कृष्ण तो योगियों के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं इसलिए इन्हें महायोगेश्वर कहा गया है। इन महायोगेश्वर को विभूतियों के द्वारा ही जाना जा सकता है। इन्हें जानने की युक्तियों को अध्याय से प्रमाणित किया गया है। जानने की प्रक्रिया भाषा के अक्षरों का भेद लिखने-पढ़ने की तरह है।अक्षरों में छोटा-बड़ा भेद होता है। वैसे ही परमात्मा की विभूतियों का छोटा-बड़ा रूप चिन्तन का भेद है। अक्षर चाहे बड़ा हो या छोटा दोनों का एक ही अर्थ समझा जाता है। फिर भी समझने की सुविधा के लिए बड़े अक्षरों को हम पहले लिखते पढ़ते है ततः छोटे सरल संयुक्ताक्षरों को। इसी तरह विभूतियों के वारे में जानकारी करनी है। अंकों की भी वही हालत है। एक सवसे छोटी संख्या और नव सबसे बड़ी संख्या है। इसी में अंकगणित समाप्त है।

परमात्मा कृष्ण ने अपने को पुरोहितों में देव-पुरोहित बृहस्पति, महर्षियों में भृगु, यज्ञों में जपयज्ञ, ऋक्, साम और यजुर्वेदों में जो जानने योग्य हैं उनमें पवित्र ॐकार, वृक्षों में पीपल वृक्ष, गजेन्द्रों में ऐरावत, अश्वों में उच्चैःश्रवा, दैत्यों में प्रह्लाद, संयमन (शासन) करनेवालों में यम, पक्षियों में गरुड़ आदि-आदि कहा है। यह स्थूलचिन्तन की प्रक्रिया है। उन्होंने आगे कहा मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या, सात्विकों में सत्य हूँ। यह सूक्ष्मचिन्तन की प्रक्रिया है। इस अघटित घटना को करने की युक्ति ही जो स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों में परमात्मा का ही रूप है, परमात्मादर्शन की कला कही जा सकती है। अध्यात्म-विद्या भी इससे अभिन्न है। अर्थात् इस अध्यात्मविद्या के द्वारा भी परमात्मा का दर्शन हो सकता है।

इस अध्याय में विभूतियोग की युक्ति बतलायी गयी है। इस योग से हम परमात्मा को देख सकते हैं, समझ सकते हैं। देखने की कला से भाव पूर्ण हो जाता है। पूर्ण भाव को भक्ति भी कह सकते हैं।

एकादश अध्याय

सज्जनो !

आज गीता के ग्यारहवें अध्याय के बारे में कुछ कहना है। दशवें अध्याय में भगवान कृष्ण ने विभूतियोग के द्वारा अर्जुन को अपना ऐश्वर्य बताया है। स्थूलरूप के साथ स्थूल-चिन्तन की विधि भी बतायी है। इस अध्याय में अर्जुन को विराट्रूप (विश्वरूप) देखने की इच्छा हुई। अर्जुन ने कहा—भगवान ! आपने जिस आध्यात्म-योग का वर्णन किया उससे मेरा अहंकार और मेरी ममता नष्ट हो गयी। अब मैं आपके योगयुक्त विराट्रूप को देखना चाहता हूँ। आप कृपानिधान हैं, सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। अतः हम पर कृपा करें। भगवान ने कहा—अर्जुन ! मेरे उस रूप को तुम अपनी इन प्राकृत आँखों से नहीं देख सकते। मैं तुझे दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ। इस दिव्य-दृष्टि के द्वारा ही तुम उसे देख सकते हो। दिव्यस्वरूप का दर्शन दिव्यदृष्टि अर्थात् दिव्यज्ञान द्वारा ही हो सकता है। दिव्यचक्षु प्राप्त होने पर स्थूल, सूक्ष्म, कारण और कार्य-कारण-सम्बन्ध सभी का रूप देख सकते हो। यह दृष्टि प्रभु की कृपा से प्राप्त होती है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं। इस अध्याय में भगवान ने चराचर सभी प्राणियों एवं सभी लोकों को अपने विश्वरूप में दिखाया है। यह आश्चर्य-मय रूप है देखनेवाले, माननेवाले, सुननेवाले और कहनेवाले सभी आश्चर्या-न्वित हो जाते हैं। इस रूप का दर्शन अक्रूरजी ने, यशोदाजी ने एवं कौशल्याजी ने भी आश्चर्यमय तथा विभिन्न रूपों में किया है। यह वर्णन पुराणों में भी पाया जाता है लेकिन यहाँ सभी भुवनों तथा लोकों के अधिदेव का भी सविशेष वर्णन देखकर अर्जुन थक गये। विश्वरूप को देखने के लिए ज्ञान दृष्टि के साथ दिव्यदृष्टि भी चाहिए क्योंकि मनुष्य की दृष्टि सीमित है। मनुष्य के पास सूक्ष्मरूप, स्थूलरूप विश्व को तथा नजदीक और दूर की चीजों को देखने की शक्ति नहीं है। भगवत्कृपा से ही यह (दिव्यदृष्टि) सुलभ है। दूर से दूर, नजदीक से नजदीक, सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं स्थूल से स्थूल सभी को दिव्यदृष्टि से

देखा जा सकता है। आज यंत्रविज्ञान के सहारे यह प्रमाणित भी हो रहा है।
अर्जुन ने सभी लोकों, देव-दानव तथा सभी प्राणियों को भगवान के विराट् रूप में देखा। साथ ही साथ युद्ध में क्षत्रियों को विराट्-पुरुष के मुख में स्वाहा होते हुए भी देखा। अर्जुन विश्वरूप को देखकर स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे कृष्ण ! आप आदि-देव हैं, विश्व के निधान हैं। समस्त विश्व आप में व्याप्त हैं। मैं आपको समझ नहीं सका था। इतना ही नहीं साथ रहने खाने, पीने और सोने में भी आपके साथ झगड़ा करना पड़ा है। कभी कभी मैं ने आपको अपमानित भी किया है। इसे आप क्षमा करें। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ।

भगवान ने कहा—अर्जुन ! विश्वरूप को देखने से तुम्हारा मन दुखित हो गया है। तुम घबरा गए हो। अतः मैं अब तुझे अपने चतुर्भुज रूप को दिखाता हूँ, उसे देखो। पुण्यात्मा पुरुष भी सुकर्म, यज्ञ, दान एवं तप से भी मेरा यह रूप नहीं देख सकते। तुम्हारे ऊपर मेरी कृपा है। इससे ही तुमने मेरे विश्वरूप एवं चतुर्भुजरूप को देखा। विश्वरूप अनन्य भक्ति से देखा जा सकता है और तादात्म्य से प्राप्त होने योग्य है। हे ! अर्जुन ! जो पुरुष मेरी ही प्राप्ति या प्रसन्नता के लिए कर्म करता है और मुझमें ही परायण है तथा मेराभक्त है, आसक्ति तथा वैरभाव से रहित होकर जीवन व्यतीत करता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है। उसका मैं हूँ और वह मेरा है। ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है।

द्वादश अध्याय

भाइयो !

आज मैं आपके बीच बैठकर गीता के बारहवें अध्याय के भक्तियोग के बारे में संक्षेप से कहता हूँ ।

अर्जुन ने प्रश्न किया–भगवन ! आपके सगुण (साकार) और निर्गुण (निराकार) रूप की उपासना करनेवालों में कौन श्रेष्ठ है ? भगवान ने बताया —जो सर्वत्र गुणविशिष्ठ मुझ परमेश्वर परमात्मा को एकाग्र मन से और मेरे लिए कर्मानुष्ठान में तत्पर होकर तथा श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर भजन करता है वह युक्ततम है अर्थात् श्रेष्ठ है । वह योगी है, यह मुझे मान्य है । यही मेरा मत है । भगवान ने अपना मत बतला दिया ।

पाँचवें अध्याय में अर्जुन का प्रश्न इसी तरह था । वहाँ उन्होने पूछा था कि योगियों और संन्यासियों में कौन श्रेष्ठ है ? यही हालत यहाँ भी है । कृष्ण ने इस अध्याय में प्रतिज्ञा की है कि जो मुझे अनन्यभाव से भजता है, इन्द्रियों से कर्म करते हुए मुझे अर्पण करता है, भवसागर में डूबते हुए उसे मैं छान लेता हूँ । मुझ में बुद्धि लगानेवाले मुझे अवश्य पा जाते हैं ।

सज्जनो ! आपका हिन्दुस्तान में जन्म हुआ है । यहाँ परब्रह्म परमात्मा स्वयं युग-युग में आते हैं । पैगम्बर को भेजकर अपना संवाद नहीं देते । भगवान में अहैतुकी भक्ति होनी चाहिए । भक्त के योग-क्षेम (आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा) का वहन वे स्वयं करते हैं ।

भक्त सगुण-साकार-उपासना से सुलभता के कारण मुझे शीघ्र पा जाते हैं । मार्गवित् अपने बच्चे भक्त को आसानी से स्थानान्तरित करते रहते हैं । भक्त को कोई कष्ट नहीं होता । पिप्पली के मार्ग की तरह भक्त धीरे-धीरे उपासनारूपी वृक्ष के शिखर पर चढ़ जाता है, मुझे पा जाता है । यह सुलभ मार्ग है । निर्गुण - निराकार-उपासक चिड़िया की तरह ज्ञानमार्ग से उड़कर चोटि पर चला जाता है । वह भी मुझे पा जाता है । या यों कह सकते हैं कि बन्दरी

जैसे अपने बच्चे को सँभालती है और बच्चा जिस प्रकार स्वयं माँ की गोद में अपने बल पर चिपक कर वृक्ष की चोटि पर भ्रमण करता रहता है, वैसी ही हालत निर्गुण - निराकार - उपासकों की भी है। यह मार्ग छुरे की धार पर चलने की तरह कष्टप्रद है। ऐसा वेद में भी कहा गया है। दोनों भक्त भगवान के पास पहुंच जाते हैं दोनों का लक्ष्य एक है।

भगवान ने इस अध्याय में कहा है – मुझमें मन को लगाओ लेकिन सातवें अध्याय में उन्होंने यह भी कहा कि इन्द्रियों में मैं मन हूँ, "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'। मन को पकड़ना ही ईश्वर को पकड़ना है, ऐसा जान पड़ता है। यदि मन को नहीं ठहरा सकते हो तो अभ्यासयोग से पाने का प्रयत्न करो। यह भी नहीं कर सकते हो तो मेरे लिए कर्म करो। मेरे निमित्त कर्म करोगे तो मुझे पा जाओगे। यदि यह भी नहीं हो सके तो सभी कर्मों के फलों का मुझमें अर्पण करो।

इस अध्याय में सगुण-साकार-उपासक और निर्गुण-निराकार-उपासक के लक्ष्य, रूप और स्वभाव एक हैं। दोनों अकर्मावस्था में हैं। एक कर्म करते हुए नहीं करता क्योंकि कर्म या कर्म के फल को भगवान को अर्पित कर देता है। इससे अहंता एवं ममता उसके शरीर में नहीं उत्पन्न होतीं हैं। वह कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से रहित हो जाता है। यह हुआ सगुणउपासक का व्यवहार। दूसरा निर्गुणउपासक है। वह कर्म नहीं करते हुए अनन्त कर्म करता है। सर्व-भूत-हित-रत रहने से शरीर तथा इन्द्रियों से नहीं करते हुए भी सभी जीवधारियों के कल्याण के लिए अनवरत चिन्तन करता रहता है। विश्व को अपने रूप में देखता है। आत्मैक्य-भावना से ओतप्रोत रहता है। ऐसा साधक राष्ट्र तथा मानवमात्र में अपना रूप देखता है। उच्च कोटि का भक्त प्राणिमात्र में अपना रूप देखता है इससे पर के भेद से रहित होकर स्व-रूप में विचरता रहता है। हिन्दुस्तान में दोनों तरह के भक्त पाये जाते हैं।

भक्त का लक्षण इस अध्याय के अन्त में कहा गया है। भगवान उसे

प्रियभक्त कह कर पुकारते हैं, जो प्राणीमात्र में किसी से द्वेष नहीं करताहै। आसक्तिरहित, सुख-दुःख में समान और क्षमाशील, योग में जो तत्पर रहता है, लाभ में जो संतोष रखता है, मुझमें मन को लगानेवाला होता है, न वह किसी को भय देता है न किसी से भय रखता है । बाहर भीतर से पवित्र रहता है। पक्षपात रहित होता है । मान एवं अपमान, निन्दा एवं स्तुति दोनों में सम रहता है। उसके द्वन्द्व मिट जाते हैं। वह हमारा प्रियभक्त है। इसे ही भागवत् धर्म कहा गया है।

त्रयोदश अध्याय

सुहृज्जनो !

भक्ति के लिए बहुत सद्गुणों की जरूरत पड़ती है। शरीर को जानना भी परमावश्यक है। इसीलिये भगवान ने तेरहवें अध्याय में एक सहायकयोग के रूप में आत्मानात्मविवेकयोग बताया है। ज्ञानयोग में भी इस योग की प्रधानता है। इस अध्याय में उपर्युक्त मत का मनन-फल, शरीर का स्वरूप, ज्ञान, ज्ञेय आत्मस्वरूप तथा परमात्म स्वरूपबताया गया है । अन्त में मानव-जीवन में इसके प्रयोग से सिद्धि बतायी गयी है।

उदाहरण के रूप में शरीर को क्षेत्र के अतिरिक्त कारखाना, गृह, निवास-स्थान आदि भी कहा गया है। कपिल मुनि के प्रकृति और पुरुष का वर्णन इस अध्याय में देखा जा सकता है लेकिन यहाँ द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत की तरह प्रतीत होता है। प्रकृति का वर्णन सातवें अध्याय में भी किया गया है। प्रकृति या माया का स्वरूप एक है। इस क्षेत्र में रहनेवाला मालिक या कृषक आत्मा है। इस खेत में वह किसान कर्म का बीज बुनकर उत्साहरूपी खाद डालकर एवं प्रेमरूपी पानी से सींच कर ब्रह्म-रूपी जीवन-फल प्राप्त करता है। सातवें अध्याय में इस क्षेत्र को परा-प्रकृति कहकर पुकारा गया है। पन्द्रहवें अध्याय में ऊर्ध्वमूल एवं अधः-शाख वाले पीपल के वृक्ष का उदाहरण दिया गया है। इस वृक्ष का प्रधान कार्यालय मूलरूप मस्तिष्क है। इस शरीर की उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि सभी कार्य मस्तिष्क के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। हिन्दूधर्म में इस स्थान पर शक्तिमान देवों की कल्पना है। खेत का मालिक या जानकार भगवान विष्णु अपने को बताते हैं।

कृष्ण ने कभी ब्रह्म के रूप में कभी विश्वरूप में अपना स्वरूप गीता में बताया है। निर्विकल्प-ब्रह्म के व्यापक होने के नाते आकाशवत् अपने को कहीं जीवरूप एवं कहीं शिवरूप बताया है। इनका मत है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का

ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान का स्वरूप आगे निरूपित होगा। चूँकि पहले शरीर को जाने विना शरीर को जानना शक्य नहीं अतः इसकी (शरीर की) ही चर्चा की जा रही है। यह मत व्यास आदि ऋषियों ने वेदान्त-दर्शन में कहा है। इस शरीर में जड़-चेतन दोनों को अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान द्वारा हम जानसकतेहैं।

महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्तमूल-प्रकृति, इन्द्रियाँ, मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय शब्दादि एवं शरीर के अंग-प्रत्यंगों सहित स्थूल तथा सूक्ष्म रूप से क्षेत्र को बताया गया है। दार्शनिकों ने पंचकोश, चतु:शरीर कह कर समझाया है। मस्तिष्क के विकार या वृत्ति को मनबुद्धि की वृत्तियाँ भी कह सकते हैं। इच्छा, द्वेष, सुखःदुख, संघात, चेतना, धैर्य ये सब मन के धर्म माने गये हैं। सुख:दुख इन्द्रियों के धर्म हैं तथा राग-द्वेष राजसी बुद्धि के धर्म हैं। संघात चेतना का धर्म है। इससे शरीर के सभी अवयव आपस में जुड़े रहते हैं। पुराणों में संघ-शक्ति की काफी-चर्चा है।

ज्ञान—अमानित्व, अदंभित्व, आदि ज्ञान स्वसंविद् हैं। पर-संविद् सभी ज्ञान भ्रमात्मक तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान हैं। ज्ञान अठारह प्रकार का गिनाया गया है। इनके विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा गया है। जैसे अहिंसा ज्ञान है तो हिंसा अज्ञान है। यह ज्ञान का मापक यंत्र है। इसे लगाकर ज्ञानी को पहचान सकते हैं।

ज्ञेय—सत्य भी, असत्य भी, सत्य असत्य से परे भी, अनादि, इन्द्रियरहित संगशून्य, भोक्ता, अभोक्ता ऐसा रूप ब्रह्म का बताया गया है। संत तुलसीदास ने भी रामचरितमानस के उत्तरकांड में राम की देवताओं द्वारा उभयात्मक रूप एवं निरूप कहकर स्तुति कराई है—

,'जय सगुन निर्गुन राम रूप अनूप भूप शिरोमनि"

इस ज्ञेय को स्थावर जंगम भूतों में कारण रूप से अभिन्न तथा कार्य रूप से भिन्न वर्णन किया गया है। प्रकृति और आत्मा (पुरुष) दोनों को एक समझना चाहिए, ऐसा भगवान ने कहा है। देह इन्द्रियादि विकारों के गुण-दोष सभी प्रकृति से ही उत्पन्न हैं।

कार्य-कारण के बीच कर्तृत्व हेतु प्रकृति है। सुख दुःख को भोगने में हेतु पुरुष को समझना चाहिए। पुरुष अर्थात् पुर रूपी शरीर में शयन करने वाला। वह पुरुष घटाकाश और महाकाशवत् आत्मा एवं परमात्मा भी है। उसने सृष्टि के सभी लोकों को आकाशवत् अपने से व्याप्त कर रखा है। इस क्षेत्र में रहने वाला क्षेत्रज्ञ अनादि होने से निर्गुण, व्यापक होने से एक ही परमात्मा आत्मा रूप से व्याप्त है, शरीर में ऐसा अपना स्वरूप मानने से व्यक्ति कर्मबन्धन से छूट जाता है। उसके कर्तृत्वभाव, भोक्तृत्वभाव सब समाप्त होजाते हैं।

परब्रह्म परमात्मा एक सूर्य की तरह सबको प्रकाशित करता है। वह अनेक जल-पूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्ब की तरह प्रत्येक शरीर में अभिन्न रूप से प्रकाशित होता रहता है। यहाँ हम प्रकाश के सहारे यह समझें कि प्रकाश का स्वरूप अनेक रूपों में देखा जाता है और देखने का साधन इन्द्रिय भी प्रकाश से ही बना हुआ है। द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य सभी एक ही हैं। ऐसा विज्ञान बताता है। एतदर्थं ज्ञान-चक्षु चाहिए। ज्ञान पहले अपरज्ञान अर्थात् इन्द्रियजन्य, भ्रमात्मक या अयथार्थ ज्ञान होता है। स्वरूप का ज्ञान या पर ज्ञान स्व-संविद् होना चाहिए। सत्य-असत्य दोनों का या शरीर-शरीरी का ज्ञान पूर्णज्ञान होता है। स्मृति नित्य-स्वरूप की होनी चाहिए। विस्मृति पर अर्थात् इन्द्रियजन्य-ज्ञान की होनी चाहिए। दोनों पर साधक को अधिकार करना है। इससे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान के फल परमपद या ब्रह्म-पद की प्राप्ति होती है।

चतुर्दश अध्याय

सत्संग प्रेमियो

आज गीता के चौदहवें अध्याय के विषय में मुझे कुछ कहना है। तेरहवें अध्याय में आत्म-अनात्म-विवेक को काफी चर्चा हुई है फिर भी यह चर्चा पूरी नहीं हो सकी। यह अध्याय भी तद्विषयक ही है।

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटि की काफी चर्चा की गयी है। सांख्य-दर्शन में दृश्य को प्रकृति और द्रष्टा को आत्मा का रूप बताया गया है। दृश्य प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। गीता में इसे सर्वत्र स्वीकार किया गया है। त्रिगुणों (सत्, रज तम) की साम्यावस्था का नाम मूल प्रकृति है। इस साम्यावस्था में त्रिगुणों की समता के कारण सृष्टि की कारणावस्था रहती है। गुणों में वैषम्य होते ही सृष्टि कार्यरूप में आने लगती है। गीता में प्रकृति का स्वामी चेतन ब्रह्म कहा गया है। यह सांख्य-दर्शन के पुरुष से भिन्न है। परमात्म-पुरुष कर्तृत्व से रहित है। वह मात्र साक्षी है। ब्रह्म शब्द यहाँ मूल-प्रकृति के लिए भी आया है। यही वेदों में वर्णित अजा है। अज ब्रह्म और अजा प्रकृति है। प्रकृति में तीन गुणों के साम्य एवं वैषम्य से सृष्टि की उत्पत्ति और संहार हुआ करते हैं। कार्य का कारण में लय होना ही प्रलय है और कारण का कार्यरूप धारण करना ही उत्पत्ति है। सृष्टि के आदि में भगवान अपने ब्रह्म (प्रकृति) में स्वयं गर्भ धारण करते हैं। वहाँ कोई अन्य कर्त्ता नहीं है। वे स्वयं अपने को धारण करते हैं। वे स्वतन्त्र हैं। यह भी कहा गया है कि जीव जब प्रकृति में गर्भ धारण करता है तब ब्रह्म पिता की तरह अपना अंश (चेतन वीर्य-स्वरूप) प्रकृति में डालते हैं। उनकी स्वतन्त्रता सदा बनी रहती है। सांख्य भी संख्या गिनाते समय प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र और अनादि बतलाता है। गीता में ऐसी भगवान त्रिगुणात्मिका माया को आत्ममाया कहते हैं। यही आत्ममाया दैवीमाया है। भगवान इस माया को पराधीन एवं स्वयं को स्वामी बनाते

हैं। अधिकार के कारण यह भी कहा है कि मेरी माया को पार करनी हो तो मुझे जान जाओ। जो मुझे जान जाता है वह भवसागर पार कर जाता है। यही सांख्य-शास्त्र से भिन्न मत दीखता है। शरीर (प्रकृति) और शरीरी (आत्मा) का वर्णन पूर्व-अध्याय में किया गया है। भगवान ने कहा —शरीरी मैं हूँ। अतः माया और मायापति दोनों को जानना चाहिए तभी बेड़ा पार हो सकता है।

अब हमलोग त्रिगुणात्मिका माया की लीला देखें। इसमें सत्, रज, तम ये तीन गुण हैं। हमारे यहाँ तीन देवता प्रधान माने जाते हैं, उत्पत्ति, रक्षा और संहार करने वाले। वेद में भी तीन कांड हैं-उपासनाकांड, ज्ञानकांड एवं कर्मकांड। उपवेद आयुर्वेद में भी प्रकृति के तीन ही दोष हैं–कफ, पित्त और वायु। तीनों दोषों की साम्यावस्था ही स्वस्थावस्था कही जाती है। तथा दोषों का वैषम्य ही रुग्णावस्था है। प्रधान त्रिदेवों के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करने की बात पहले कही जा चुकी है। ये त्रिदेव तीनों गुणों के अधिष्ठाता हैं। ये हैं ब्रह्मा, विष्णु और शिव।

गायत्री के भी तीन रूप माने गये हैं। प्रातःकालीन ब्रह्माणी, मध्यकालीन वैष्णवी एवं सायंकालीन रुद्राणी। इस त्रिगुणात्मका शक्ति का प्रभाव हमारे अंग-प्रत्यंग पर पड़ता रहता है। सुबह में सतोगुण का प्रभाव पड़ने से हम दुर्वृत्तियों से ज्यादा बचते हैं, जैसे बच्चे को हम नहीं सताते, ज्यादा मुनाफा नहीं लेते।

त्रिगुण का चढ़ाव उतराव हमारे शरीर में और ब्रह्माण्ड में होता रहता है। अतः यह शरीरी (आत्मा) परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक शरीर में त्रिगुणों से बँध जाता है। गुण-परिवर्तन के साथ आत्मा भी सुखी और दुःखी होने लगता है। सत्त्वगुण ज्ञान, सुख और प्रकाशस्वरूप है। शरीर पारदर्शी शीशे की तरह बन जाता है। शरीरी सत्त्वगुण से प्रभावित होता रहता है। इसे हम दैवी-सम्पत्ति कहते हैं। सुख स्वरूप होने के कारण जीव इसे अधिक पसन्द करता है क्योंकि जीव भी आनन्दस्वरूप है। समाज-कल्याण में लोग

सतोगुणी महापुरुष से ज्यादा प्रभावित होते हैं। वह उच्चकोटि का महा-पुरुष हो जाता है। वह सर्वदा प्रेम, करुणा और सद्विचार में रत रहता है लेकिन आसक्ति बनी रहती है। साधक को इसका त्याग करना पड़ता है; ऐसा गाँधीजी कहते हैं।

रजोगुण से राग, तृष्णा और संगति उत्पन्न होते हैं। शरीरी इन दुर्गुणों से प्रभावित हो जाता है। वह लोभ और तृष्णा में पड़ा रहता है। इस संसार में वहुत उखाड़-पछाड़ करता रहता है।

तमोगुण से आलस्य, प्रमाद और निद्रा-वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। तमोगुणी पुरुष इन वृत्तियों से बँधा रहता है। आजकल मानव-समाज में आलस्य की प्रधानता हो गयी है। इसके प्रभाव से सभी वर्गों के लोग बिना काम किए हुए भी द्रव्योपार्जन के लिए व्यस्त हैं। इन्द्रियसुख को प्राप्त करने से बढ़ कर आज जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है। लोग आलस्य, सुख और बुढ़ापे में जीवन व्यतीत कर देते हैं। बुढ़ापा आने पर उसे पाकर छोड़ना नहीं चाहते। उन्हें अज्ञान में रहना पसन्द है, इस वजह से वे वानप्रस्थी, संन्यासी या समाजसेवी नहीं हो पा रहे हैं।

रजोगुण और तमोगुण दोनों भाई हैं। दोनों को जीतकर सत्त्वगुण पर अधिकार जमाना चाहिए। पुराणों में एक उपाख्यान है। शंकर के क्रोध से कामदेव जल रहा था। तब कामदेव ने कहा मैं तो जल रहा हूँ, पर हम तीन भाई हैं। मेरे दूसरे भाई क्रोध का आप पर अधिकार हो गया। मोह के पुत्र काम, क्रोध और लोभ ये सहोदर भाई हैं। गुणों का चढ़ाव-उतराव हमारे तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) पर पड़ता रहता है। सत्त्वगुण पर भी विजय करनी है। इस अध्याय में निस्त्रैगुण्य का वर्णन है। पूर्ण अवस्था में कारण ब्रह्मस्वरूप की भी चर्चा है। इस अवस्था को शास्त्रों में तुरीय निस्त्रैगुण्यावस्था कहा जाता है।

जीवनान्त में शरीर छोड़ते हुए भी इन गुणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं

रहता। इसकारण ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः लोकों और विभिन्न योनियों में जाना पड़ता है। सत्त्वगुण उत्तम, रजोगुण मध्यम तथा तमोगुण अधम माना गया है। कृष्ण भगवान ने द्वितीय अध्याय में अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने का आदेश दिया है। "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !" (गीता अ० २, श्लो० ४५) भगवान ने वेदों को भी त्रिगुण से युक्त बताया—

" त्रैगुण्यविषया वेदाः "

(गीता अ० २ श्लो० ४५)

वेद को कामना को देनेवाला जन्म-कर्म में बाँधनेवाला कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ के विषय में अर्जुन को शंका हुई थी। अर्जुन ने पूछा था—स्थित-प्रज्ञ कैसे चलता है ? कैसे व्यवहार करता है ? वैसे ही इस अध्याय में अर्जुन को शंका हुई है। भगवान ने उत्तर दिया है। निस्त्रैगुण्य होने पर आत्मा तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति), तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) से परे हो जाती है। उसके सुख-दुःख, रागद्वेष, मानापमान आदि द्वन्द्व तथा शरीरधर्मादि नहीं रहते। बारहवें अध्याय के परम-भक्त तथा द्वितीय अध्याय के स्थित-प्रज्ञ की तरह वह जीवन-मुक्त हो जाता है। भगवान के कथना-नुसार इस पद की प्राप्ति के लिए भगवान में अनन्य तथा अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिए। भक्त अनन्यभक्ति से नित्य-ब्रह्म को पा जाता है। महर्षि कपिल के अनुसार वह केवल हो जाता है। वह जीव से शिव बन जाता है। वह ब्रह्मत्व प्राप्ति कर लेता है।
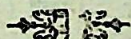
पञ्चदश अध्याय

सज्जनो !

आज पन्द्रहवें अध्याय के विषय में कुछ कहना है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी किशोरावस्था में ही वैराग्य से प्रभावित हो गए थे। उन्हें राजभवन का सुख-विलास अच्छा नहीं लगता था वे तीर्थयात्रा समाप्तकर एकान्तमें उदासीन रहा करते थे। "विविक्तदेशसेवित्वम्" के प्रभाव से ज्ञान की प्राप्ति पूरी थी। राजा दशरथ को यह खबर मिली और गुरु वशिष्ठजी को भी समाचार प्राप्त हुआ, गुरु वशिष्ठजी रामचन्द्र से मिले। उन्होंने रामचन्द्र को उत्तमोत्तम ज्ञान, वैराग्य एवं योगाभ्यास बताया। इसी सत्संग के माध्यम से गुरु वशिष्ठजी ने उन्हें पुरुषोत्तमयोग की जानकारी करा दी। रामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। उन्हें जानी चीज को पुनः सुनने का मौका मिला। महर्षि सान्दीपनी ने भी लीलापुरुषोत्तम भगवान कृष्ण को पुरुषोत्तम-योग सुनाया था। उसी पुरुषोत्तमयोग को गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण ने बताया है।

विष्णु-सहस्रनाम में विष्णुभगवान का नाम विश्वम्, पुरुषः और पुरुषोत्तम कहा गया है। इस अध्याय में भी तीन नामों का विचार किया गया है। विश्व को ऊर्ध्वमूल (ऊपर की ओर जड़वाला) और अधःशाख (नीचे की ओर शाखावाला) बताया गया है। इसके पत्ते छन्द अर्थात् वेदस्वरूप हैं।

"जो देखो पिंड में वही देखो ब्रह्मांड में" के अनुसार हमारा शरीर भी इसी प्रकार का है। मानव-शरीर विश्व का बीजस्वरूप है। इसका मूल शिर है। मूलाधारचक्र से वायु प्रवाहित होकर स्फोट के रूप में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी अवस्थाओं से होते हुए कंठ-स्वर-यंत्र के सहारे छन्द-मात्रा के रूप में महाकाश में फैल जाता है। शब्द (ध्वनि) नित्य है, व्यापक है। जब भी हम कहते-सुनते हैं हमारा सम्भाषण वेदस्वरूप हो जाता है। छन्द, मात्रा, अलंकार, राग, रागिनी आदि में परिवर्तित होता रहता है। जो सुनी जाय वही श्रुति है। जो देखकर (जानकर) कहा जाय वही वेद है।

हमारे शरीर में जीव अनेक कीटाणुओं से युक्त होकर औदुम्बरस्थ कीट की तरह विद्यमान है। इसमें अनेक जीवाणु संपुटित रहते हैं। जीवात्मा पुरुष है। व्यष्टि-शरीर में चेतन-परमात्मा का अंश, सनातन और व्याप्त है। अंश का तात्पर्य टुकड़ा नहीं, महाकाश के अंशभूत घटाकाश और मठाकाश की तरह है। प्रलय के समय या सुषुप्ति के समय जीव का अंशसूक्ष्मशरीर के साथ जाता-आता रहता है। सूक्ष्मशरीर में पंच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच वायु, मन एवं बुद्धि सब साथ रहते हैं। तदंश के कारण यह (जीवात्मा) अनादि-निर्गुण आत्मस्वरूप है। इस प्रकार "पुरि शेते इति पुरुषः" को चरितार्थ करता है। स्वरूप को जान जाने पर जीव ज्ञानी बन जाता है। अन्यथा जीव अविद्या के प्रभाव के कारण अबुद्ध रहता है। भगवान ने कहा है– इस शरीर में रहते हुए मुझे जीव जान नहीं पाता। मैं तो वासुदेवस्वरूप हूँ। प्रत्येक शरीर में मैं बसा हूँ। समष्टि (विश्व) के अभिमानी देवता पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्माण्ड के लोकों में शरीरधारी रूप से क्षर-अक्षर और क्षर-अक्षर से परे पुरुषोत्तम सभी व्याप्त हैं। यह विचारधारा स्वामी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सी लगती है। विश्व, पुरुष, आत्मा और पुरुषोत्तम की सेवा ही मनुष्य का परम-पुरुषार्थ है। इस अध्याय में अद्वैत का भी भव्य महल खड़ा किया गया है। पुरुषोत्तमयोग में सेवा करनेवाला जीव, सेवा का साधन विश्व और सेव्य पुरुषोत्तम हैं। इस प्रकार साधन, साधक, साध्य सभी एक हैं। इस ज्ञान को क्रमपूर्वक इस अध्याय में सजाया गया है। इसी कारण इसे शास्त्र की संज्ञा दी गयी है। यह शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है — " इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ" ऐसी कृष्ण की घोषणा है।

भगवान ने यह भी कहा कि मुझे जो पुरुषोत्तम रूप से मोह रहित होकर अनन्य भाव से भजता है। वह सब प्रकार से मेरा ही भजन करता है तदनन्तर वह सर्वज्ञ हो जाता है —

"स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत !"

(गीता .अ. १५ श्लो० १४)

षोडश अध्याय

प्रिय भाइयो !

आज आपसे गीता के सोलहवें अध्याय के विषय में कुछ कहना है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भगवान को जो कुछ कहना था, सब कह चुके। ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन ने भी स्वीकार कर लिया कि उसका मोह नष्ट हो गया। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तमयोग की साधना पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह योग पूर्णावस्था या तुरीयावस्था में ही प्राप्त होता है। जीवन के परमलक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब हम इस अवस्था की प्राप्ति कर लें। इसके सध जाने पर ही अपने में सब को और सबमें अपने को देखा जा सकता है।

सोलहवें अध्याय में इस योग का पूर्वरूप बताया गया है। इस पूर्वरूप को दैवी-सम्पत्ति समझा जा सकता है। इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि विश्व एवं मानवशरीर को इस दैवी-सम्पत्ति से क्या क्या लाभ मिलता है तथा आसुरी सम्पत्ति से विश्व एवं मानव शरीर को कौन-कौन सी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। इन दोनों सम्पत्तियों के विवेचन के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया गया है कि दैवी सम्पत्ति का फल मोक्ष तथा आसुरी सम्पत्ति का फल बन्धन है।

पुराणों में भी देवासुरसंग्राम के माध्यम से दैवी और आसुरी सम्पत्तियों को समझाया गया है। रामचरितमानस के लंकाकांड में विभीषण ने राम से प्रश्न किया—प्रभो ! विना रथ और विना पदत्राण आप संग्राम में रावण जैसे महान योद्धा से युद्ध करके कैसे विजय प्राप्त करेंगे ? राम ने कहा कि विजयरथ दूसरा ही है। शौर्य, धैर्य आदि विजय के कारण हैं और ये ही दैवी सम्पत्तियाँ हैं। जिसके पास ये सम्पत्तियाँ हों, विजयश्री संग्राम में उसी का वरण करती है। इसी तरह कंस-कृष्ण-संग्राम, वृत्र-इन्द्र-संग्राम, हिरण्यकशिपु-नृसिंह-संग्राम की भी पुराणों में काफी चर्चा है। अन्य महापुरुषों ने भी इसी तरह सद्वृत्तियों तथा दुर्वृत्तियों की लड़ाई बताई है। संसार में तथा शरीर में यह लड़ाई निरन्तर होती

रहती है। शारीरिक लड़ाई को मानसिक लड़ाई कहना अच्छा है। मन में दोनों वृत्तियाँ (दैवी और आसुरी) जगती हैं और सुप्त भी होती रहती हैं। मन की क्रिया से शरीर में प्रतिक्रिया और शरीर की क्रिया से समाज में प्रतिक्रिया का प्राकट्य होता है। इसी तरह भगवान को पाने का जो प्रयत्न करता है, उस समय उसके हृदय में दैवी सम्पत्ति का उदय होता है तथा आसुरी सम्पत्ति का नाश होता है। सद्वृत्तियों की साधना से ही भक्त भगवान को प्रिय हो जाता है। भगवान कृष्ण ने भी पूर्ववर्ती अध्यायों में कई बार यह कहा है कि अर्जुन तुम आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त करो।

ये दैवी और आसुरी सम्पत्तियाँ अकेली नहीं है। इनके समूह हैं। एक संत ने मुझसे कहा था—यह शरीर ही रावण की लंका है। इसी शरीर में सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों के बीच राम-रावण की तरह लड़ाई हो रही है।

गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ की चर्चा करते हुए भगवान कृष्ण ने कहा है कि विषय के ध्यान से संग (आसक्ति), संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का नाश, स्मृति-नाश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से आत्मा अधोगति को प्राप्त करती है। इसी तरह समाज में भी इन दुर्वृत्तियों से बहुत सी हानियाँ होती हैं। समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाता है। सबलोग त्रस्त और दुखी रहते हैं। दुर्वृत्तियों से ही शारीरिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय दुःखों का पादुर्भाव होता है। तृतीय अध्याय में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है तथा यह बड़ा ही भूखवाला और पापकर्मवाला है। यही जीव का महान शत्रु है। इस पर विजय पानी चाहिए। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि आत्मा आसुरी वृत्तियों से अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसारूप्य को प्राप्त कर लेता है। नवम अध्याय के बारहवें श्लोक में बताया गया है कि "मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञानाविचेतसः" अर्थात् आसुरी वृत्ति के कारण मनुष्य मेरा अपमान करता है। भगवान से विमुख व्यक्ति इस आसुरी-वृत्ति के शिकार हो जाते हैं। भगवान

ने दशम अध्याय में कहा है—मेरे विभूतियोग के कारण हृदय से आत्मभाव अर्थात् सद्भाव का जागरण होता है। अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश आदि सभी सद्वृत्तियाँ मुझसे उत्पन्न होती हैं। ये सद्वृत्तियाँ ही दैवी-सम्पत्तियाँ हैं। अनात्मज्ञान में असद्वृत्तियों के परिवार में मुख्य तीन हैं—काम, क्रोध, और लोभ। इसी तरह सद्वृत्तियों के परिवार में सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य प्रधान हैं। सोलहवें अध्याय के तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्तिवाले व्यक्ति के २६ गुण वर्णित हैं। इन गुणों को योगशास्त्र की प्रथम कक्षा में ही २६ अक्षरों के रूप में गिना दिया गया है। ये हैं–१० यम, १० नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। ये कुल २६ हैं। यम का पहला अक्षर है अहिंसा, दूसरा सत्य, इसके बाद अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। हिन्दी वर्णमाला का आदि अक्षर 'अ' है। जैसे हिन्दी के सभी अक्षरों में 'अ' व्याप्त है उसी प्रकार योगशास्त्र के सभी अक्षरों में अहिंसा और प्रेम व्याप्त है। ऐसा योगशास्त्र में कहा गया है। यदि अहिंसा और प्रेम सभी सद्गुणों में न रहें तो सभी सद्गुणों को व्यवहार में लाना मुश्किल है। बुद्धदेव, मुहम्मद साहब एवं ईशामसीह सबों ने इन्हें अपनाया है। अहिंसा, करुणा, दया, क्षमा सब एक समान हैं। दुर्गासप्तशती के पंचम अध्याय में देवी की स्तुति करते समय देवताओं ने ऐसा ही कहा है-

या देवी सर्वभूतेषु क्षमा रूपेण संस्थिता......।
या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता...... ॥

इसी प्रकार अनेक शब्द आते हैं। माँ का यही मुख्य रूप है। भूत मात्र में यह रूप दिखाई देता है। तुलसीदास ने भी राम के बारे में ऐसा ही कहा है 'उर प्रेरक रघुवंशमणि'। तुलसीदास ब्रह्म की उपासना राम के रूप में करते थे। आसुरीसम्पत्तिवाले मान-मर्यादा की प्राप्ति एवं सभ्यता और संस्कृति के अभिमानी होते हैं। ये नास्तिक होते हैं। आज इस शत्रु को परास्त किया, कल उस शत्रु को परास्त करेंगे। आज यह मनोरथ सिद्ध हुआ कल उस मनोरथ को सिद्ध करेंगे। ये इसी में लगे रहते हैं। इन्हे धन, जाति, वर्ग और वाद का

ज्यादा अभिमान रहता है। अपनी बुद्धि, ज्ञान, बल एवं धन के घमंड से समाज को धोखा देते रहते हैं। इनसे समाज को लाभ के बदले नुकसान ही होता है। ये अपने को ईश्वर मान बैठते हैं। अपने को सिद्ध भी बतलाते हैं। इनका चित्त अत्यन्त अशांत और चञ्चल रहता है। अपनी मनोकामनाओं के चंगुल में पड़कर झूठा वाद एवं सिद्धांत बताते चलते हैं। अनेक मोहजालों में पड़कर अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु समाज के अहित में भी रत रहते हैं। दूसरों में दोष देखना इनका स्वभाव बन जाता है। ये नरक में पड़ जाते हैं, कारण कि सद्‌विचारों में रत रहना स्वर्ग और दुर्विचारों में रत रहना नरक है—

सत्संसर्गो स्वर्गः। असत्संसर्गो नरकः ॥

इस अध्याय में भगवान ने यह कहा है कि नरक के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इन तीनों को अपने इन्द्रियसुख के लिए दुराचारी लोग प्रयोग में लाते रहते हैं। इसके विपरीत दैवीसम्पत्ति से जीव बन्धन में नहीं पड़ता, मुक्त होकर जीवन में सुख से विचरता रहता है। इस युग में ऐसा प्रयोग गांधीजी ने किया है। उन्होंने सत्य और अहिंसा का प्रयोग कर समाजकल्याण के हेतु स्वतन्त्रता प्राप्त की है। उनका साधन सत्य और अहिंसा ही था। वे अपने को सत्याग्रही कहते थे। उनका कहना था कि प्रेम और सत्य के सहारे प्रह्लाद की तरह एक सत्याग्रही भी स्वराज्य ला सकता है। उसमें अमोघ शक्ति है। उन्होंने समाजकल्याण के लिए समाज से ही सत्याग्रह कराकर सिद्धि पायी। यह प्रयोग दैवीसम्पत्ति के बल पर हुआ।

भगवान ने अन्त में कहा कि शास्त्र के अनुकूल आचरण नहीं करने से न तो सिद्धि मिलती है, न सुख और न परमगति ही। वेद शास्त्रों में भी इसी तरह का आदेश है। इसे स्वीकार करना चाहिए।

सप्तदश अध्याय

श्रद्धेय भाइयो !

आज मुझे श्रद्धा के बारे में कहना है। "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, चाहे लौकिक हो या पारलौकिक। श्रद्धा शब्द भक्ति का पूर्वरूप कहा जा सकता है। श्रद्धालु श्रद्धेय के गुणों से आकर्षित रहता है, प्रभावित रहता है। अपने श्रद्धेय के प्रति समाज में भी श्रद्धा उत्पन्न कर उसे प्रेरित करता रहता है लेकिन प्रेम में यह बात नहीं होती। प्रेमी अपने प्रिय के साथ अन्य के प्रेम को पसंद नहीं करता। वह प्रेम व्यक्तिनिष्ठ होता है। प्रेमी को अन्य का प्रेम असह्य हो जाता है। वह प्रिय को सदा साथ रखकर उसकी सेवा में रत रहना पसंद करता है। इसके बाद संघ के शरण में चला जाता है फिर धर्म के शरण में चला जाता है। "बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि"। प्रेम नित्य एवं व्यापक में होता है, ऐसा कवियों ने कहा है। शरीर या धन-वैभव आदि अनित्य वस्तुओं में जो प्रेम दृष्टिगोचर होता है वह तो मोह है। वह अशुद्ध है। प्रेम के नित्य एवं व्यापक होने के कारण प्रिय भी नित्य एवं व्यापक होता है। प्रेम झूठे अंधविश्वास से नहीं होता है लेकिन मोह पैदा हो जाता है। प्रेम, मोह एवं श्रद्धा में यही अन्तर है। प्रेम एकांगी है पर श्रद्धा सर्वांगी है। शास्त्रविहित तथा अविहित श्रद्धा में क्या अन्तर है, यह प्रसंग इस अध्याय के प्रारम्भ में है। श्रद्धा मनुष्य का एक महान गुण है। श्रद्धा की कोटि उच्च होने पर भक्ति में परिणत हो जाती है। मनुष्य श्रद्धावान है। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी। विभिन्न सेवकगण सात्त्विकी श्रद्धा से देवों की उपासना करते हैं, राजसी श्रद्धा से यक्ष . राक्षसो को भजते हैं और तामसी श्रद्धा से भूत-प्रेत की पूजा करते हैं साथ ही दुःख भी भोगते हैं। शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा से ही परमात्मा की उपासना कर भक्तजन भी भगवद्-रूप हो जाते हैं। यह विशुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा शास्त्र विधि के अनरूप होती है। इसे पर श्रद्धा कह सकते हैं।

शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा से ही निष्कामी बनकर भक्त अनन्य भक्ति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति की यही विशेषता है। समाज में अभी भक्ति नहीं उतरी है लेकिन श्रद्धा देखी जाती है। भक्त लोग दूध में जेवन डालने की तरह समाज में कम हैं। गीता में भी कहा गया है कि "मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये" भक्ति की यही विशेषता है। श्रद्धा देही (आत्मा) को गुणस्वभाव के कारण विशेष बाँध रखती है। मानव श्रद्धामय है। इस श्रद्धा के लिये यज्ञ, दान, तप एवं आहार की शुद्धि भी अपेक्षित है, ऐसा ही इस अध्याय में कहा गया है। भोजन पर भी विचार किया गया है। चौदहवें अध्याय में आप सभी त्रिगुण की करामात सुन चुके हैं। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। गुणस्वभाव के भेद से इसी तरह आहार, यज्ञ, तप आदि के भी तीन तीन भेद बताये गये हैं।

भोजन

क– सात्त्विक भोजन से शरीर के अंग प्रत्यंग पुष्ट एवं स्वस्थ रहते हैं और जीवन दीर्घायु होता है। इसमें आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रोटीन, फैट कारवोहैड्रेट, मिनरलसाल्ट, विटामिन आदि सभी पौष्टिक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। जैसे :– दूध, गेहूँ, चना, फलाहार आदि।

ख– राजसी आहार अत्यन्त गर्म, लवण से युक्त, कटु, तीखा वगैरह होता है। इसके सेवन से दुःख, शोक, रोगादि शरीर में उत्पन्न होते हैं। जैसे- कचौड़ी, पकौड़ी, मिर्चा, खटाई में बने हुए चटपटे सामान। इसके सेवन से जीभ चटोरी हो जाती है।

ग– तामसी भोजन में मांस, अण्डा, सड़ी हुई चीज बासी अन्न, जूठा, सुखी चीजें आदि सम्मिलित हैं। जैसे– चाय, अण्डा, मांस, विस्कुट आदि। इससे महामारियाँ तथा अन्य असाध्य व्याधियाँ समाज को विषाक्त बना देती हैं। पात्रों को उनके गुणों के अनुकूल ही भोजन प्रिय लगता है।

तप

तप के तीन भेद होते हैं, शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक।

से शारीरिक तप का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। देव, आचार्य, ज्ञानी की सादर सेवा शौच (अंतर्बाह्यपवित्रता), ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि सभी शारीरिक तप के रूप में परिगणित हैं। वाचिक तप के अन्तर्गत सत्य, प्रिय तथा परिणाम में हितकर वचन आता है। मानस तप में मन की प्रसन्नता, मौन, (मन में दुर्विचार नहीं आने देना), विषयों से मन को हटाना, व्यवहार में निष्कपट रहना आदि माना गया है।

यज्ञ

क– सात्विक यज्ञ–विना कामना के कर्त्तव्य समझकर विधिपूर्वक किये गये यज्ञोंको सात्विक माना गया है।

ख– राजसी यज्ञ फल की इच्छा से और बड़प्पनकी अपेक्षा से किया जाता है।

ग– विधिरहित, दक्षिणारहित आदि तामसी यज्ञ के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।

दान

क– सात्विक दान– पात्र, अपात्र विचार कर 'अनुपकारी समझकर' कर्तव्य समझकर जो दान दिया जाय वही सात्विक दान है ।

ख– राजस दान-: इसमें स्वर्गलोक की प्राप्ति की तथा इस लोक में यश की कामना रहती है। यह दान कष्टपूर्वक दिया जाता है। ये सभी राजस दान के दुर्गुण हैं। संत विनोबाजी ने कहा है कि हम जन्म के साथ तीन ऋण लेकर आते हैं–शारीरिक, सामाजिक और स्रैष्ठिक। शारीरिक ऋण तप से, सामाजिक ऋण दान से तथास्रैष्ठिक ऋण यज्ञ करके चुकाया जाता है। समाज के जरिये हमें ज्ञान, धन तथा कला की प्राप्ति होती है। अतः विद्या, धन तथा कला के द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिए। सम-विभाजन ही दान है, ऐसा शंकराचार्य ने कहा है। "दानं समविभाजनम्"। तप से शरीर की शुद्धि होती है। शरीर के अन्दर मन, बुद्धि भी निहित हैं। शारीरिक श्रम से इनकी शुद्धि होती है। सृष्टि में हम सूर्य, पृथ्वी, हवा, पानी से जिन्दा रहते हैं। सारा काम इनके ही

सहारे हम पूरा कर पाते हैं। अतः इनकी सेवा से ही हम ऋणमुक्त हो सकते हैं।

वेद में भगवान का पहला नाम ॐ कहा गया है, इसके बाद तत् सत् भी कहा गया है। हम तीनों नामों का प्रयोग करते हैं। ॐ तत् सत् कहते हैं। श्रद्धापूर्वक मंत्रोच्चार करते समय मंत्रोपासक ॐ लगाकर उच्चारण करते हैं। ॐ को जैन, बौद्ध, सिक्ख सभी धर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं।

तत् शब्द ब्रह्मद्योतक है जो भी कर्म करते हैं, उसके लिए अर्पण करते हैं। यह यज्ञ करने की विधि है। सत् शब्द भी परमात्मा का रूप है। अर्थात् परमात्मा सत्-स्वरूप है। यज्ञ, दान, तप को भी हम सत्कर्म समझ कर करते हैं। ऐसी सलाह भगवान ने भी दी है। ॐ तत् सत् के नाम से कर्मणा, मनसा, वाचा, कर्मयोग या भोग सभी श्रद्धा और शास्त्र विधिपूर्वक करनी चाहिए। अश्रद्धा से किये गये सभी कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। इससे समाज में ढोंग, पाखण्ड फैल जाता है। गृहस्थ, विरक्त सभी अपने को सेवक की कोटि में गिनते हैं। सेवक भी उत्तम-मध्यम-अधम के भेद से सात्विक, राजसिक और तामसिक कहे जायेंगे। उत्तम सेवक श्रद्धा से अपना कर्त्तव्य समझ कर सभी कार्य करता है, वह कार्य चाहे गाँव, देश, घर या विश्व का हो। सभी जगह एक ही तरह का व्यवहार करता है।

मध्यम सेवक व्यापारिक मनोवृत्ति से; काम करता है। सभी जगह उसकी मनोकामना की पूर्ति होनी चाहिए। चाहे राज्य में, घर में या समाज में वह सब जगह अपनी सेवा का बदला लेकर ही रहता है अन्यथा उपेक्षा भी कर देता है। इसमें राजसी श्रद्धा रहती है।

अधम सेवक विना सेवा किये ही धन, प्रतिष्ठा या पद ले लेता है। फल कीपूर्वप्राप्ति के विना कार्य नहीं करता। ऐसी सेवा से समाज का कल्याण नहीं होता। वह समाज को धोखा देकर डकैती मनोवृत्ति से सेवक बन बैठता है।

उत्तम सेवक से ही समाज-कल्याण सम्भव है। उस सेवक में सात्विक श्रद्धा निष्कामता, तथा जीवन-पर्यन्त एकनिष्ठता पायी जाती है।

अष्टादश अध्याय

आदरणीय भाइयो !

आज भगवान की असीम कृपा से हम गीता के अन्तिम अध्याय तक पहुँच गए हैं। अन्तिम अध्याय परिशिष्ट भाग है, ऐसा बाबा (विनोबाजी) ने कहा है। इस अध्याय में भी अर्जुन ने भगवान के समक्ष संन्यासी और त्यागी के विषय में शंका उपस्थित कर दी है। उत्तर के प्रसंग में ही संन्यास, त्याग, सांख्य के कर्मविचार, सुख, बुद्धि, कर्म, कर्त्ता, ज्ञान तथा धैर्य सबको त्रिगुणात्मक बताया है। अन्त में ब्राह्मी स्थिति तथा शरणागति कहकर समाप्ति की है।

भगवान कृष्ण ने त्याग के विषय में तीन विचार व्यक्त किये हैं—

क- कुछ लोगों का कहना है कि कर्म में आसक्ति का त्याग करें।

ख- कर्म में फल का त्याग करें।

ग- निषिद्धकर्म का त्याग करें फिर भी यज्ञ, दान, तप, कर्म सदा करते रहें क्योंकि ये अन्तःकरण की शुद्धि के साधन हैं।

पूर्व अध्याय में यज्ञ, दान, तप आदि की व्याख्या सविधि हो चुकी है। सात्त्विक कर्म, यज्ञ, दान, तप, शुद्ध भोजन, शरीर-निर्वाह ये सब समाज-कल्याण के लिए आवश्यक हैं। भगवान ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है तथा इसके पक्ष में सलाह भी दी है।

त्रिविध त्याग

१- नित्यकर्म का त्याग नहीं हो सकता। मोह से नित्यकर्म का त्याग किया जाय तो तामस त्याग है। यह अधम है।

२- कर्म दुखःस्वरूप है। यह शरीर को क्लेश देनेवाला है, ऐसा समझकर कर्म का त्याग किया जाय तो वह राजस त्याग है, जो मध्यम है।

३- कर्म करना हमारा कर्त्तव्य है, ऐसा समझकर शास्त्रविहित कर्म आसक्ति और फल को छोड़कर किया जाय तो उसे सात्त्विक कहा जायेगा। यह उत्तम कोटि का है।

सांख्य का कर्म-विचार

अधिष्ठान (शरीर) तथा कर्त्ता (अहंकार) और पृथक् पृथक् करण (चक्षुरादि इन्द्रिय), विविध चेष्टाएं (प्राण अपान वायुओं का व्यापार) इसी प्रकार ५ वाँ कारण दैव (अव्यक्त शक्ति) ये सभी शुभाशुभ कर्म के प्रेरक कहे गए हैं —

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

(गीता अ. १८ श्लो १४)

जितनी भी घटनाएं घटती हैं, इनके मूल कारण पाँच ही होते हैं। कर्म सबके सहयोग से ही होता है। कर्म में एक का ही हाथ नहीं है। इस प्रकार हम कर्त्ता कहाँ रहे ? अपने को अकर्त्ता समझो, ऐसा भगवान ने कहा है। इसी प्रसङ्ग में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता का भेद भी कहा गया है।

ज्ञान

समस्त प्राणियों में अभिन्न और अविनाशी तत्त्व को जानना, भिन्न में अभिन्न देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

जिस ज्ञान में भिन्नत्व या रूप-वैचित्र्य हो वह राजस ज्ञान है।

जिस ज्ञान द्वारा एक ही मूर्ति में ईश्वर का सम्पूर्ण रूप से रहना मान लिया जाय अर्थात् प्रतिमा ही ईश्वर है, इस प्रकार का ज्ञान, जो सर्वथा निर्मूल, तुच्छ और परापलम्बन (पर—इन्द्रिय–अहंकारादिभिन्न उसके) से रहित है, वह तामस ज्ञान है।

कर्म

जो कर्म शास्त्रविहित है और विना फल की इच्छा के किया जाता है, राग-

द्वेष से रहित होकर किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म है। जो फल की इच्छा रखकर अहंकारपूर्वक कठिन परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कर्म है।

जो कर्म शुभाशुभ विना विचार किए काफी अपव्यय कर हिंसा से या अपने सामर्थ्य के ध्यान विना किया जाता है वह तामस कर्म है।

कर्त्ता

जो कर्म में अनासक्त है, कर्म करने के गर्व से रहित है, उत्साही है, सफलता विफलता से तटस्थ है, वह सात्त्विक कर्त्ता है। वही उत्तमोत्तम सेवक हो सकता है।

जो कर्मफल के राग से युक्त, पराये धन की इच्छा रखनेवाला, क्रूर, अपवित्र, लाभ-हानि में हर्ष-शोक से युक्त है, वह राजस कर्त्ता है।

जो आलसी है, दीर्घसूत्री है, अविवेकी और विषादी है, वह कर्त्ता तामस है। ऐसे कर्यकर्त्ता को समाज में ढोना पड़ता है। इनसे बड़ी हानी होती है।

बुद्धि

जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष को यथार्थतः बताती है वह सात्त्विकी बुद्धि है।

जो बुद्धि धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, कार्य-अकार्य की यथावत् नहीं बताती, वह राजसी है।

जो बुद्धि सभी उपर्युक्त विचारों को विपरीत बताए वह अज्ञानस्वरूप बुद्धि तामसी बुद्धि है।

धृति

एकाग्रता, अनन्यभक्ति, मन, प्राण एवं इन्द्रियों को संयम के समय धारण करनेवाली धृति सात्विकी है।

धर्म, अर्थ, काम-फल की प्राप्ति के लिए धैर्य धारण करनेवाली धृति राजसी धृति है।

स्वप्न, भय तथा शोक आदि में तामसी भृति मानी जाती है।

सुख

पूर्व में दु:खस्वरूप तथा परिणाम में सुख-स्वरूप, आत्मा एवं बुद्धि के माध्यम से प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है। जैसे—ब्रह्मचर्य, अध्ययन, संयम, तप आदि में प्राप्त होनेवाला सुख।

इन्द्रियों के माध्यम से भोग के समय का सुख परिणाम में दुखदायी होता है, यह राजस-सुख है।

आलस्य या प्रमाद के माध्यम से प्राप्त होनेवाला सुख तामम है। इस समय इसे आधुनिक समाज में विशेष रूप से अमल में लाया जा रहा है। भगवान ने कहा है—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
स्वधर्म को स्वभावज और सहज होना चाहिए।
(गीता० अ० ३, श्लो० ३५)

गीता में स्वधर्म को स्वकर्म ही मानना चाहिए। वही ब्रह्मनिष्ठा है। धर्म, कर्म और नीति को एक समझना चाहिए। अहंकार, बल, दर्प, काम क्रोध, और परिग्रह से रहित होकर शांत चित्तवाला स्वधर्म का पालन करके ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। भक्त को भी इसी प्रकार सभी गुणों से युक्त, प्रसन्न चित्त-वाला समदर्शी होना चाहिए। वही भगवान का प्रिय भक्त है।

इस अध्याय की समाप्ति शरणागतिमंत्र के साथ की गयी है। यह अन्तिम युक्ति है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० अ० १८, श्लो० ६६

सभी धर्मों का मतलब यही है कि अगर शरीर-धर्म, मनो-धर्म, बुद्धि-धर्म इन

सबों को त्यागकर परमात्मैक्यभावना से मेरे शरण में आ जाओ तो मैं तुम्हें सभी पापों से दूर कर मोक्ष दे दूँगा। यही तुम्हारा आत्मीय धर्म है।

पुनः कृष्ण भगवान ने कहा—इस मत को जो कहता सुनता है वह मेरा भक्त है। मैं उस पर प्रसन्न रहता हूँ। इस उपदेश के अन्त में अर्जुन ने स्वीकार किया है—भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया, आत्मस्मृति हो गयी, संदेह दूर हो गया। मैं आपके वचनों का पालन करूँगा।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गी० अ० १८, श्लो० ७३)

इस संवाद को संजय ने धृतराष्ट्र से कहा। यहाँ चतुर्मुखी वार्ता की तरह हो जाती है। इस ज्ञान को कृष्ण ने अर्जुन से और संजय ने धृतराष्ट्र से कहा। यही कृष्ण के द्वारा गायी हुई गीता है। संजय ने अन्त में धृतराष्ट्र से यह भी कहा कि जहाँ जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, धनुर्धारी अर्जुन हैं वहाँ तो विजय निश्चित ही है।

सज्जनों!

हमलोगों के हृदय में परमात्मा कृष्ण रम रहे हैं। हमारा मन अर्जुन की तरह पापरहित और अनसूया (दूसरे में पाप न देखने की आदत) से युक्त हो जाय तो विजय जीवन में निश्चित है।